विवेक-ज्योति

वर्ष ३९, अंक ९ सितम्बर २००१ मूल्य रु. ५.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छत्तीसगढ़)

कुछ लोग जन्मजात महान होते हैं ...
और कुछ अपने कार्यों से महान बनते हैं ॥

- देश के श्रमिकों के लिये सर्वोच्च पुरस्कार श्रम रत्न पुरस्कार के नौ विजेताओं में आठ भिलाई में कार्यरत हैं।
- भिलाई के श्रेष्ठतम औद्योगिक संबंध वाले माहौल का यह बेहतरीन उदाहरण है कि पिछले एक दशक से यहाँ औद्योगिक संबंधों से जुड़े मुद्दे पर एक भी कार्य दिवस की हानि नहीं हुई।
- भिलाई के इस्पात कर्मियों ने पिछले सात वर्षों में छः बार भारतीय राष्ट्रीय सुझाव योजना एसोसियेशन (इनसान) का पुरस्कार जीता है।
- भिलाई की सभी प्रमुख उत्पादक इकाइयों को आई एस ओ-9002 प्रमाणपत्र प्राप्त हो चुका है।
- भिलाई पाँच वर्षों में चार बार देश के सर्वश्रेष्ठ एकीकृत इस्पात संयंत्र के रूप में प्रधानमंत्री ट्राफी भी जीत चुका है।

हम सर्वोत्तम इस्पात बनाते हैं...

हम सर्वोत्तम इस्पात कर्मी भी बनाते हैं।

हर किसी की जिंदगी से जुड़ा हुआ है सेल

स्टील अथॉरिटी ऑफ इंडिया लिमिटेड

भिलाई इस्पात संयंत्र

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

सितम्बर, २००१

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ३९
अंक ९

वार्षिक ५०/- एक प्रति ५/-

५ वर्षों के लिए – रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. ७००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : २२५२६९, ६३६९५९, २२४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ५४६६०३)

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(अठारहवीं तालिका)

६८०. श्री रामकृष्ण चन्द्राकर, कौड़िया, सिसदेवरी, रायपुर (छ.ग.)
६८१. श्री श्रीनारायण उपाध्याय, सिविल जज, झाँसी (उ.प्र.)
६८२. श्री रमेश पटेल, आर्यनगर, दुर्ग (छ.ग.)
६८३. श्री निखिल चन्द्राकर, औंधी, दुर्ग (छ.ग.)
६८४. श्री लतीश कुमार आहुजा, जरीपटका, नागपुर (महा.)
६८५. श्री महेश अम्बवानी, गाँधीधाम, कच्छ (गुजरात)
६८६. श्रीमती रेखा गोयल, छोटा पारा, रायपुर (छ.ग.)
६८७. श्री नारद प्रसाद वर्मा, महकाकला, दुर्ग (छ.ग.)
६८८. श्री अजय गुप्ता, करबलापारा, रायपुर (छ.ग.)
६८९. श्रीमती मीता सरकार, न्यू शान्तिनगर, रायपुर (छ.ग.)
६९०. श्रीमती ममता आर्य, शेखू सराय, नई दिल्ली
६९१. श्री मनोज चन्द्राकर, तात्यापारा, रायपुर (छ.ग.)
६९२. श्री पुरुषोत्तम दास अंजू झाझरिया, बोकारो (झारखण्ड)
६९३. श्री अरुण कुमार पाण्डे, हजारीबाग (झारखण्ड)
६९४. श्री तरुण कुमार पटनायक, भिलाई, दुर्ग (छ.ग.)
६९५. स्वामी ब्रह्मलोकानन्द, मायाकुण्ड, ऋषिकेश (उत्तरांचल)
६९६. ब्रह्मचारी पूर्णचैतन्य, वृन्दावन, मथुरा (उ.प्र.)
६९७. श्री निखिल शिवहरे, विवेकानन्द मार्ग, दमोह (म.प्र.)
६९८. श्री नवल किशोर चौधरी, कोलकाता (प.बं.)
६९९. प्राचार्य, शा.क.उ.मा. वि., भुआ बिछिया, मण्डला (म.प्र.)
७००. श्री देवेन्द्र द्विवेदी, चौबे कालोनी, रायपुर (छ.ग.)
७०१. श्री बी. के. कुमावत, रविशंकर नगर, उज्जैन (म.प्र.)
७०२. श्री राजेश यादव, लक्ष्मीनगर, दिल्ली
७०३. श्री डॉ. एल.सी. मढ़रिया, नेहरू चौक, बिलासपुर (छ.ग.)
७०४. श्री परेशभाई जयरामभाई टाँक, धमपिठ, नागपुर (महा.)
७०५. सचिव, रामकृष्ण आश्रम, ग्वालियर (म.प्र.)
७०६. श्री राजकुमार पमनानी, साबरमती, अहमदाबाद (गुज.)
७०७. सचिव, रामकृष्ण मिशन, लिंमड़ी, सुरेन्द्रनगर (गुज.)
७०८. श्री चुरामणि लाल साहू, रसेला, रायपुर (छ.ग.)
७०९. श्री रामदास माखीजा, ईदगाह भाठा, रायपुर (छ.ग.)
७१०. स्वामी वासुदेवानन्द जी, साधुबेला, हरिद्वार (उत्तरांचल)
७११. श्री जी. आर. शर्मा, एडवोकेट, गौहाटी (आसाम)
७१२. विवेकानन्द कॉलेज, लखनपुर, कठुआ (जम्मू-कश्मीर)
७१३. श्री सुरेश राठी, साईनगर, देवेन्द्रनगर, रायपुर (छ.ग.)
७१४. श्री राजेश गहलोत, एम.पी.नगर, बीकानेर (राजस्थान)
७१५. स्वामी चिरन्तनानन्द, रामकृष्ण मिशन, पोरबन्दर (गुज)
७१६. श्री शम्भु प्रसाद अग्रवाल, अम्बिकापुर, सरगूजा (छ.ग.)
७१७. श्री अनिल कुमार सिंगला, मलाड, मुम्बई (महाराष्ट्र)
७१८. श्री शशिदत्त शुक्ल, अरेरा कालोनी, भोपाल (म.प्र.)
७१९. श्री राजेश्वर साहेब राव गंजारे, अमरावती (महाराष्ट्र)

सदस्यता के नियम

(१) पत्रिका के नये सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। यदि पिछले किसी अंक से बनना हो, तो उसका उल्लेख करें।

(२) अपना नाम तथा पिनकोड सहित पूरा पता स्पष्ट रूप से अवश्य लिखें। नये सदस्य हों, तो लिखें – 'नया सदस्य'।

(३) अपनी पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही उसका नवीनीकरण करा लें।

(४) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उससे पहले प्राप्त शिकायतों पर ध्यान नहीं दिया जायेगा। अंक उपलब्ध होने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(५) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ५/- रुपयों का अतिरिक्त खर्च वहन करके इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमारे कार्यालय को न भेजें।

(६) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी हेतु 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

लेखकों से निवेदन

विवेक-ज्योति के लिये अपनी रचना भेजते समय कृपया निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषय पर रचनाओं को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। ऐसी हो कि पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो।

(३) लेख में उद्धृत श्लोकों आदि के सन्दर्भ का ठीक तथा समुचित विवरण दिया जाय।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अतः उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिए अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा सम्भव हो तो उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(६) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो अथवा भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख जरूर करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

श्रीरामकृष्ण शरणम्

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,

रायपुर - ४९२ ००१ (छ.ग.)

सादर सनम्र निवेदन

आत्मीय बन्धु/भगिनी,

स्वामी विवेकानन्द, अपनी जन्मभूमि कलकत्ता के अतिरिक्त सम्पूर्ण पृथिवी में सबसे अधिक समय तक लगातार रहे हों, ऐसा स्थान है, तो वह है 'रायपुर नगर'। रायपुर में सन् १८७७ से १८७९ में अपनी किशोर अवस्था में स्वामीजी दो वर्ष रहे थे। उन्हीं की पुण्यस्मृति में रायपुर आश्रम का नामकरण रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम किया गया है।

यह आश्रम गत लगभग ४० वर्षों से नर-नारायण की सेवा में समर्पित है। आश्रम में निम्नलिखित सेवा विभाग हैं –

(१) धर्मार्थ औषधालय – नेत्ररोग विभाग, स्त्रीरोग विभाग, दन्तरोग विभाग, शिशुरोग विभाग, एक्स-रे विभाग, मनोरोग विभाग, हृदयरोग विभाग, पैथोलॉजी विभाग, नाक-कान-गला विभाग। (२) फिजियोथेरेपी (३) होमियोपैथी (४) ग्रन्थालय – (अ) विद्यार्थियों के लिये पाठ्य-पुस्तक विभाग (ब) सामान्य ग्रन्थ विभाग (स) पत्र-पत्रिकाओं सहित निःशुल्क वाचनालय (५) विद्यार्थियों के लिये निःशुल्क छात्रावास (६) श्रीरामकृष्ण मन्दिर (७) साधु-सेवा (८) गोशाला (९) स्कूल के गरीब छात्रों हेतु निःशुल्क कोचिंग क्लास।

इन वर्षों में आश्रम की सेवा गतिविधियों में पर्याप्त वृद्धि हो गई, परन्तु उसकी तुलना में आर्थिक अभाव के कारण आश्रम के भवनों आदि का विस्तार नहीं किया जा सका है। इसलिये अब आश्रम के कुछ विभागों में स्थान-विस्तार की नितान्त आवश्यकता है। उसी प्रकार आश्रम के पुराने भवनों की मरम्मत, रंग-रोगन आदि भी कराने की अत्यन्त आवश्यकता है।

आश्रम में दो प्रकार के सेवक हैं – (१) साधु-ब्रह्मचारी (२) वेतन-भोगी

साधु-ब्रह्मचारियों के भरण-पोषण तथा वेतनभोगी सेवकों के वेतनादि के लिये भी आश्रम को स्थायी कोष की आवश्यकता है। आश्रम के सेवा-कार्यों तथा सेवकों, साधु-ब्रह्मचारियों आदि का भरण-पोषण आप जैसे उदार बन्धु-भगिनियों के दान से ही चलता है।

अतः आपसे सादर अनुरोध है कि निम्नलिखित मदों में उदारतापूर्वक दान देकर अनुगृहीत करें।

बूँद बूँद से ही घड़ा भरता है। आपके द्वारा दिया गया सभी दान हमारे लिये महान है तथा हमारी योजनाओं में परम सहायक होगा।

(१) सत्-साहित्य प्रदर्शन तथा विक्रय विभाग भवन तथा उपकरण (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(२) सेवक निवास भवन तथा उपकरण (सात लाख) ७,००,०००/- रु.

(३) गोशाला निर्माण तथा गोबर गैस संयंत्र आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(४) मन्दिर के सामने मुख्य द्वार का निर्माण तथा द्वार से मन्दिर तक पथ निर्माण (तीन लाख) ३,००,०००/- रु.

(५) पुराने भवनों की मरम्मत तथा रंग-रोगन आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(६) मन्दिर का फूल-उद्यान, जल संसाधन व्यवस्था तथा इनका रख-रखाव एवं विद्युत खर्च (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(७) औषधालय में औषधि आदि का व्यय तथा फिजियोथेरेपि यंत्रों का रख-रखाव, विद्युत व्यय, कर्मचारियों का मानदेय आदि (पच्चीस लाख) २५,००,०००/- रु.

स्थायी कोष के लिये अपेक्षित कुल राशि (रू. एक करोड़ मात्र) १,००,००,०००/- रु.

नर-नारायण की सेवा में आपका सहयोगी,

(स्वामी सत्यरूपानन्द)

सचिव

चेक/ड्राफ्ट कृपया रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के नाम पर लिखें।

रामकृष्ण मिशन को दिये गये दान में ८०जी आयकर अधिनियम के अन्तर्गत छूट मिलती है।
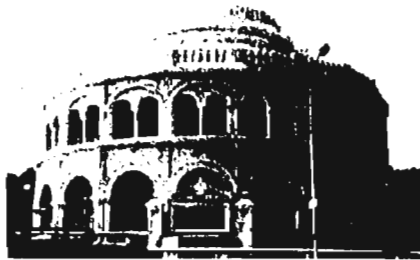
श्रीरामकृष्ण मठ
मयलापुर, चेन्नै - ६०० ००४
फोन - ४९४१२३१, ४९४१९५९, फॅक्स : ४९३४५८९
Website : www.sriramakrishnamath.org
email : srkmath@vsnl.com

प्रिय बन्धु,

स्वामी विवेकानन्द के जीवन तथा उपदेशों से प्रत्येक अध्येता के लिये विवेकानन्दार इल्लम एक ऐतिहासिक भवन तथा पावन तीर्थ है। उन्होंने इस भवन में पूरे नौ दिन निवास करते हुए बहुत-से आगन्तुकों से भेंट की, भजन गाये, प्रार्थना की और ध्यान किया। यह स्थान अब भी उनकी तथा दिव्य उपस्थिति से स्पन्दित है।

आपको ज्ञात होका कि स्वामी विवेकानन्द एक शताब्दी पूर्व - १८९७ ई की फरवरी में चैन्नै के इस भवन में पधारे थे, जो उन दिनों आइस हाउस या कैसिल कर्नन के नाम से प्रसिद्ध था। उन्होंने इसमें ६ से १४ फरवरी तक निवास किया तथा भारत के पुनर्निर्माण हेतु भावोद्दीपक भाषण दिये, जो अब 'भारतीय व्याख्यान' नामक पुस्तक में उपलब्ध हैं।

यह भवन दक्षिणी भारत के सर्वप्रथम रामकृष्ण मठ का भी आश्रय रहा है। स्वामी विवेकानन्द के गुरुभाई तथा एक महान् सन्त स्वामी रामकृष्णानन्द के तत्त्वावधान में १८९७ ई. से १९०६ ई. तक इसी भवन में रामकृष्ण मठ चलता रहा।

इस भवन का जीर्णोद्धार करके इसमें 'स्वामी विवेकानन्द तथा भारतीय संस्कृति' पर एक स्थायी प्रदर्शनी बनाने हेतु तमिलनाडु सरकार ने यह भवन हमें लीज पर दे दिया है। भवन के जीर्णोद्धार का कार्य पूरा हो चुका है और तमिलनाडु के माननीय मुख्यमंत्री के हाथों २० दिसम्बर १९९९ को इस प्रदर्शनी का प्रथम चरण का उद्घाटन किया गया। इस प्रथम चरण की परियोजना पर रु. ६५ लाख का खर्च आया है। द्वितीय तथा तृतीय चरण के कार्य शीघ्र ही आरम्भ होनेवाले हैं, जिन पर रु. ८५ लाख का व्यय होने का अनुमान है। इस प्रदर्शनी के रख-रखाव के लिए भी रु. ५० लाख का एक स्थायी कोष बनाने की आवश्यकता होगी।

अब तक हम दान के द्वारा केवल रु. १५ लाख-ही एकत्र कर सके हैं। आपसे अनुरोध है कि इस पुण्य कार्य में उदारतापूर्वक सहयोग करके आप श्रीरामकृष्ण तथा स्वामीजी के आशीर्वाद के भाजन बनें। सभी प्रकार के दान आयकर से मुक्त हैं। कृपया क्रास किये हुए चेक या ड्राफ्ट 'रामकृष्ण मठ, चेन्नै' के नाम से भेजें।

मानवता की सेवा में आपका,

स्वामी गौतमानन्द

अध्यक्ष

नीति-शतकम्

दौर्मंत्र्यान्नृपतिर्विनश्यति यतिः सङ्गात् सुतो लालनाद्-
विप्रोऽनध्ययनात् कुलं कुतनयाच्छीलं खलोपासनात् ।
ह्रीर्मद्यादनवेक्षणादपि कृषिः स्नेहः प्रवासाश्रयान्
मैत्री चाप्रणयात् समृद्धिरनयात् त्यागप्रमादाद्धनम् ।।४२।।

अन्वयः – नृपतिः दौर्मंत्र्यात्, यतिः सङ्गात्, सुतः लालनात्, विप्रः अनध्ययनात्, कुलं कुतनयात्, शीलं खलोपासनात्, ह्रीः मद्यात्, कृषिः अपि अनवेक्षणात्, स्नेहः प्रवासाश्रयात्, मैत्री अप्रणयात्, समृद्धिः अनयात्, धनं च त्याग-प्रमादात् विनश्यति ।

भावार्थ – गलत सलाह से राजा बरबाद हो जाता है और जनसम्पर्क से साधु, दुलार से पुत्र, शास्त्रों का अध्ययन न करने से ब्राह्मण, कुपुत्र से वंश, दुष्टों के संसर्ग से सदाचार, मद्यपान से लज्जा, देखरेख के अभाव में खेती, देशान्तर निवास से प्रेम, स्नेह के अभाव में मित्रता, अनीति से सुख-समृद्धि तथा व्यय में लापरवाही से धन नष्ट हो जाता है।

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य ।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ।।४३।।

अन्वयः – वित्तस्य तिस्रः गतयः भवन्ति – दानं भोगः नाशः। यः न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिः भवति ।

भावार्थ – धन की तीन प्रकार की ही गतियाँ होती हैं। या तो मनुष्य धन का दान करता है, या उपभोग करता है अथवा वह नष्ट हो जाता है। जो व्यक्ति अपने धन का न तो परोपकार या परमार्थ के लिए दान करता है, न अपनी सुख-सुविधा के लिए व्यय करता है, उसके धन का (चोरों या कुपुत्र द्वारा) व्यर्थ ही नाश हो जाता है।

– भर्तृहरि

श्रीरामकृष्ण-वन्दना

– १ –

(खमाज-एकताल)
(तर्ज – के तुमि बाजाले)

जय जय जय रामकृष्ण, जग जन हितकारी ।
कलिमल हरने सत्वर, चिन्मय वपुधारी ।।

युग युग में आ भू पर, लीला करते सुन्दर,
धारण कर विविध रूप, त्रिविध ताप हारी ।।

दीन आर्त साधु-सुजन, करते तव स्तुति-वन्दन,
धरती पा धन्य हुई, चरण-रज तुम्हारी ।।

मैं भी आश्रय पाने, आया हूँ चरणों में,
दूर करो अन्तर से, भय तृष्णा सारी ।।

– २ –

(भीमपलासी-एकताल)
(तर्ज – वह शक्ति हमें दो दयानिधे)

मम मन के मानसरोवर में,
प्रभु परमहंस विचरण करते ।
खिलते हैं पद्म प्रभूत वहाँ,
आनन्दरूप भवदुख हरते ।।

हिम आच्छादित गिरि शिखर खड़े,
सात्त्विक हैं और सुरम्य बड़े,
आर्द्रित हो सन्तापित चित में,
दैवी सुख-शान्ति सुधा भरते ।।

हिंसक रिपुओं का नाम नहीं,
अँधियारे का भी काम नहीं,
फैली सर्वत्र अलौकिक द्युति,
मोदित जगजीव तरण करते ।।

– *विदेह*

व्यक्तित्व का विकास (५)

स्वामी विवेकानन्द

(व्यक्तित्व का विकास एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है और आज के युग में तो इसका महत्त्व और भी बढ़ गया है। मैसूर के रामकृष्ण आश्रम से स्वामीजी के व्यक्तित्व-निर्माण विषयक उक्तियों का एक संकलन प्रकाशित हुआ है। यहाँ पर हम उसी पुस्तिका की भूमिका तथा अनुवाद का क्रमशः प्रकाशन कर रहे है। – सं.)

इस संसार की भलाई

दूसरों के प्रति हमारे कर्तव्य का अर्थ है – दूसरों की सहायता करना, संसार का भला करना। हम संसार का भला क्यो करें? इसलिये कि देखने में तो हम संसार का उपकार करते हैं, परन्तु असल में हम अपना ही उपकार करते हैं। हमें सदैव संसार के उपकार की चेष्टा करनी चाहिये और कार्य करने मे यही हमारा सर्वोच्च उद्देश्य होना चाहिये। परन्तु यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय, तो प्रतीत होगा कि इस संसार को हमारी सहायता की बिल्कुल आवश्यकता नहीं है। यह संसार इसलिये नहीं बना कि हम अथवा तुम आकर इसकी सहायता करें। एक बार मैंने एक उपदेश पढ़ा था, वह इस प्रकार था – 'यह सुन्दर संसार बड़ा अच्छा है, क्योंकि इसमें हमें दूसरों की सहायता करने के लिये समय तथा अवसर मिलता है। ऊपर से तो यह भाव सचमुच सुन्दर है, पर यह कहना कि संसार को हमारी सहायता की आवश्यकता है, क्या घोर ईश-निन्दा नहीं है? यह सच है कि संसार में दुःख-कष्ट बहुत है, और इसलिये लोगों की सहायता करना हमारे लिये सर्वश्रेष्ठ कार्य है; परन्तु आगे चलकर हम देखेंगे कि दूसरों की सहायता करने का अर्थ है, अपनी ही सहायता करना।[४७]

फिर भी हमें सदैव परोपकार करते ही रहना चाहिये। यदि हम सदैव यह ध्यान रखें कि दूसरों की सहायता करना एक सौभाग्य है, तो परोपकार करने की इच्छा हमारी सर्वोत्कृष्ट प्रेरणा है। एक दाता के ऊँचे आसन पर खड़े होकर और अपने हाथ में दो पैसे लेकर यह मत कहो, "ऐ भिखारी, ले यह मैं तुझे देता हूँ।" परन्तु इस बात के लिये कृतज्ञ होओ कि तुम्हें वह निर्धन व्यक्ति मिला, जिसे दान देकर तुमने स्वयं अपना उपकार किया। धन्य पानेवाला नहीं होता, देनेवाला होता है। इस बात के लिये कृतज्ञ होओ कि इस संसार में तुम्हें अपनी दयालुता का प्रयोग करने और इस प्रकार पवित्र एवं पूर्ण होने का अवसर प्राप्त हुआ।[४८]

यदि तुम सोचो कि तुमने इस शरीर को, जिसका अहंभाव लिये बैठे हो, दूसरों के निमित्त उत्सर्ग कर दिया है तो तुम इस अहंभाव को भी भूल जाओगे और अन्त में विदेह-बुद्धि आ जायेगी। एकाग्र चित्त से औरों के लिये जितना सोचोगे, उतना ही अपने अहंभाव को भी भूलोगे। इस प्रकार कर्म करने पर जब क्रमशः चित्तशुद्धि हो जायेगी, तब इस तत्त्व की अनुभूति होगी कि अपनी ही आत्मा सब जीवों में विराजमान है। औरों का हित करना आत्मविकाश का एक उपाय है, एक पथ है। इसे भी एक तरह की साधना जानो। इसका उद्देश्य भी आत्म-विकास है। ज्ञान, भक्ति आदि की साधना से जैसा आत्म-विकास होता है, परार्थ कर्म करने से भी वैसा ही होता है।[४९]

यदि तुम किसी मनुष्य को कुछ दे दो और उससे किसी प्रकार की आशा न करो, यहाँ तक कि उससे कृतज्ञता प्रकाशन की भी इच्छा न करो, तो यदि वह मनुष्य कृतघ्न भी हो, तो भी उसकी कृतघ्नता का कोई प्रभाव तुम्हारे ऊपर न पड़ेगा, क्योंकि तुमने तो कभी किसी बात की आशा ही नहीं की थी और न यही सोचा था कि तुम्हें उससे बदले में पाने का कुछ अधिकार है। तुमने उसे वही दिया, जो उसका प्राप्य था। उसे वह चीज अपने कर्म से ही मिली, और अपने कर्म से ही तुम उसके दाता बने। यदि तुम किसी को कोई चीज दो, तो उसके लिये तुम्हें घमण्ड क्यों होना चाहिये? तुम तो केवल उस धन अथवा दान के वाहक मात्र हो और संसार अपने कर्मों द्वारा उसे पाने का अधिकारी है। फिर तुम्हें अभिमान क्यों हो? जो कुछ तुम संसार को देते हो, वह आखिर है ही कितना?[५०]

कुछ भी न माँगो, बदले में कोई चाह न रखो। तुम्हें जो कुछ देना हो, दे दो। वह तुम्हारे पास वापस आ जायेगा; लेकिन आज ही उसका विचार मत करो। वह हजार गुना हो वापस आयेगा, पर तुम अपनी दृष्टि उधर मत रखो। देने की ताकत पैदा करो। दे दो और बस काम खत्म हो गया। यह बात जान लो कि सम्पूर्ण जीवन दानस्वरूप है; प्रकृति तुम्हें देने के लिये बाध्य करेगी। इसलिये स्वेच्छापूर्वक दो। एक-न-एक दिन तुम्हें दे देना ही पड़ेगा। इस संसार में तुम जोड़ने के लिये आते हो। मुट्ठी बाँधकर तुम चाहते हो लेना, मगर प्रकृति तुम्हारा गला दबाती है और तुम्हें मुट्ठी खोलने को मजबूर करती है। तुम्हारी इच्छा हो या न हो, तुम्हें देना ही पड़ेगा। जिस क्षण तुम कहते हो कि 'मै नहीं दूँगा', एक घूँसा पड़ता है और तुम चोट खा जाते हो। दुनिया में आये हुये प्रत्येक व्यक्ति को अन्त में अपना सर्वस्व दे देना होगा। इस नियम के विरुद्ध बरतने का मनुष्य जितना अधिक प्रयत्न करता है, उतना ही अधिक वह दुखी होता है। हममें देने की हिम्मत नहीं है, प्रकृति की यह उदात्त माँग पूरी करने के लिये हम तैयार नहीं हैं, और यही है – हमारे दुःख का कारण। जंगल साफ हो जाते है, बदले में हमें उष्णता मिलती है। सूर्य समुद्र से पानी लेता है, इसलिये कि वह वर्षा करे। तुम भी

लेन-देन के यंत्र मात्र हो। तुम इसलिये लेते हो कि तुम दो। बदले में कुछ भी मत माँगो। तुम जितना ही अधिक दोगे, उतना ही अधिक तुम्हें वापस मिलेगा। जितनी ही जल्दी इस कमरे की हवा तुम खाली करोगे, उतनी ही जल्दी यह बाहरी हवा से भर जायेगा। पर यदि तुम सब दरवाजे-खिड़कियाँ और छिद्र बन्द कर लो, तो अन्दर की हवा अन्दर रहेगी जरूर, पर बाहरी हवा कभी अन्दर नहीं आयेगी, जिससे अन्दर की हवा दूषित, गन्दी और विषैली बन जायेगी। नदी स्वयं को निरंतर समुद्र में खाली किये जा रही है और वह फिर से लगातार भरती आ रही है। समुद्र की ओर गमन बन्द मत करो। जिस क्षण तुम ऐसा करते हो, मृत्यु तुम्हें आ दबाती है।[५१]

विद्या-बुद्धि, धन-जन, बल-वीर्य जो कुछ प्रकृति हमलोगों के पास एकत्र करती है, वह समय आने पर बाँटने के लिये है; हमें यह बात स्मरण नहीं रहती, सौंपे हुये धन में आत्म-बुद्धि हो जाती है, बस इसी प्रकार विनाश का सूत्रपात होता है।[५२]

निःस्वार्थता ही सफलता लायेगी

इसी प्रकार मन की सारी बहिर्मुखी गति किसी स्वार्थपूर्ण उद्देश्य की ओर दौड़ते रहने से छिन्न-भिन्न होकर बिखर जाती है; वह फिर तुम्हारे पास शक्ति लौटाकर नहीं लाती। परन्तु यदि उसका संयम किया जाय, तो उससे शक्ति की वृद्धि होती है। इस आत्मसंयम से महान इच्छाशक्ति का प्रादुर्भाव होता है; वह बुद्ध या ईसा जैसे चरित्र का निर्माण करता है। मूर्खों को इस रहस्य का पता नहीं रहता, परन्तु फिर भी वे मनुष्य-जाति पर शासन करने के इच्छुक रहते हैं। एक मूर्ख भी यदि कर्म करे और प्रतीक्षा करे, तो समस्त संसार पर शासन कर सकता है। यदि वह कुछ वर्ष तक प्रतीक्षा करे तथा अपने इस मूर्खताजन्य जगत्-शासन के भाव को संयत कर ले, तो इस भाव के समूल नष्ट होते ही वह संसार में एक शक्ति बन जायेगा। परन्तु जिस प्रकार कुछ पशु अपने से दो-चार कदम आगे कुछ देख नहीं सकते, इसी प्रकार हममें से अधिकांश लोग दो-चार वर्ष के आगे भविष्य नहीं देख सकते। हमारा संसार मानो एक क्षुद्र परिधि-सा होता है, हम बस उसी में आबद्ध रहते हैं। उसके परे देखने का धैर्य हममें नहीं रहता और इसलिये हम दुष्ट और अनैतिक हो जाते हैं। यह हमारी कमजोरी है – शक्तिहीनता है।[५३]

स्वार्थपरता ही अर्थात् स्वयं के सम्बन्ध में पहले सोचना बड़ा पाप है। जो मनुष्य यह सोचता रहता है कि 'मैं ही पहले खा लूँ, मुझे ही सबसे अधिक धन मिल जाय, मैं ही सर्वस्व का अधिकारी बन जाऊँ, मेरी ही सबसे पहले मुक्ति हो जाय तथा मैं ही औरों से पहले सीधा स्वर्ग को चला जाऊँ', वही व्यक्ति स्वार्थी है। निःस्वार्थ व्यक्ति तो यह कहता है, 'मुझे अपनी चिन्ता नहीं है, मुझे स्वर्ग जाने की भी आकांक्षा नहीं है, यदि मेरे नरक में जाने से भी किसी को लाभ हो सकता है, तो मैं उसके लिये भी तैयार हूँ।' यह निःस्वार्थता ही धर्म की कसौटी है। जिसमें जितनी ही अधिक निःस्वार्थपरता है, वह उतना ही आध्यात्मिक है तथा उतना ही शिव के समीप है। चाहे वह पण्डित हो या मूर्ख, शिव का सामीप्य दूसरों की अपेक्षा उसे ही प्राप्त है, उसे चाहे इसका ज्ञान हो या न हो। परन्तु इसके विपरीत यदि कोई मनुष्य स्वार्थी है, तो चाहे उसने संसार के सब मन्दिरों के ही दर्शन क्यों न किये हों, सारे तीर्थ क्यों न गया हो और रंग-भभूत रमाकर अपनी शक्ल चीते-जैसी क्यों न बना ली हो, शिव से वह बहुत दूर है।[५४]

प्रत्येक सफल मनुष्य के स्वभाव में कहीं-न-कहीं विशाल सच्चरित्रता और सत्यनिष्ठा छिपी रहती है और उसी के कारण उसे जीवन में इतनी सफलता मिलती है। वह पूर्णतया स्वार्थहीन न भी रहा हो, पर वह उसकी ओर अग्रसर हो रहा था। यदि वह पूर्ण रूप से स्वार्थहीन होता, तो उसकी सफलता वैसी ही महान् होती, जैसी बुद्ध या ईसा की। सर्वत्र निःस्वार्थता की मात्रा पर ही सफलता की मात्रा निर्भर करती है।[५५]

सदा विस्तार करना ही जीवन है और संकुचन मृत्यु। जो अपना ही स्वार्थ देखता है, आरामतलब है, आलसी है, उसके लिए नरक में भी जगह नहीं है।[५६]

प्रेम ही लाभकारी है

जरूरत है – केवल प्रेम, निष्ठा तथा धैर्य की। जीवन का अर्थ ही विकास अर्थात् विस्तार यानी प्रेम है। अतः प्रेम ही जीवन है, यही जीवन का एकमात्र नियम है और स्वार्थपरता ही मृत्यु है। इहलोक एवं परलोक में यही बात सत्य है। परोपकार ही जीवन है, परोपकार न करना ही मृत्यु है। जितने नरपशु तुम देखते हो, उनमें ९०% मृत हैं, वे प्रेत हैं; क्योंकि मेरे बच्चो, जिसमें प्रेम नहीं है, वह जी भी नहीं सकता। मेरे बच्चो, सबके लिये तुम्हारे दिल में दर्द हो – गरीब, मूर्ख एवं पददलित मनुष्यों के दुःख को तुम महसूस करो, तब तक महसूस करो, जब तक तुम्हारे हृदय की धड़कन न रुक जाय, मस्तिष्क चकराने न लगे और तुम्हें ऐसा प्रतीत होने लगे कि तुम पागल हो जाओगे – फिर ईश्वर के चरणों में अपना दिल खोलकर रख दो, और तब तुम्हें शक्ति, सहायता और अदम्य उत्साह की प्राप्ति होगी। गत दस वर्षों से मैं अपना मूलमन्त्र घोषित करता आया हूँ – संघर्ष करते रहो और अब भी मैं कहता हूँ कि अविराम संघर्ष करते चलो। जब चारों ओर अन्धकार-ही-अन्धकार दीखता था, तब मैं कहता था – संघर्ष करते रहो; अब जब थोड़ा-थोड़ा उजाला दिखायी दे रहा है, तब भी मैं कहता हूँ कि संघर्ष करते चलो। डरो मत मेरे बच्चो! अनन्त नक्षत्रखचित आकाश की ओर भयभीत दृष्टि से ऐसे मत ताको, जैसे कि वह हमें कुचल ही डालेगा। धीरज धरो। देखोगे कि कुछ ही घण्टों में वह सब-का-सब तुम्हारे पैरों तले आ गया है। धीरज धरो, न धन से काम होता है; न

नाम से, न यश काम आता है, न विद्या; प्रेम से ही सब कुछ होता है। चरित्र ही कठिनाइयों की संगीन दीवारें तोड़कर अपना रास्ता बना सकता है।[५७]

मनुष्य के लिए जिस मनुष्य का जी नहीं दुखता, वह अपने को मनुष्य कैसे कहता है?[५८]

कर्तव्य का पालन शायद ही कभी मधुर होता हो। कर्तव्य-चक्र तभी हल्का और आसानी से चलता है, जब उसके पहियों मे प्रेम रूपी चिकनाई लगी रहती है, अन्यथा वह एक अविराम घर्षण मात्र है। यदि ऐसा न हो, तो माता-पिता अपने बच्चों के प्रति, बच्चे अपने माता-पिता के प्रति, पति अपनी पत्नी के प्रति तथा पत्नी अपने पति के प्रति अपना अपना कर्तव्य कैसे निभा सकेगे? क्या इस घर्षण के उदाहरण हमें अपने दैनिक जीवन मे सदैव दिखायी नहीं देते? कर्तव्य-पालन की मधुरता प्रेम ही है, प्रेम का विकास केवल स्वतंत्रता में ही होता है। पर सोचो तो जरा, इन्द्रियों का, क्रोध का, ईर्ष्या का तथा मनुष्य के जीवन में प्रतिदिन होनेवाली अन्य सैकड़ों छोटी-छोटी बातों का गुलाम होकर रहना क्या स्वतंत्रता है? अपने जीवन के इन सारे क्षुद्र संघर्षों में सहिष्णु बने रहना ही स्वतंत्रता की सर्वोच्च अभिव्यक्ति है। स्त्रियाँ स्वयं अपने चिड़चिड़े तथा ईर्ष्यापूर्ण स्वभाव की गुलाम होकर अपने पतियों को दोष दिया करती हैं। वे दावा करती हैं कि हम स्वाधीन हैं; पर वे नहीं जानतीं कि ऐसा करके वे स्वयं को निरी गुलाम सिद्ध कर रही हैं और यही हाल उन पतियों का भी है, जो सदा अपनी स्त्रियों में दोष ही देखा करते हैं।[५९]

प्रेम कभी निष्फल नहीं होता मेरे बच्चे, कल हो या परसों या युगों बाद, पर सत्य की विजय अवश्य होगी। प्रेम ही मैदान जीतेगा। क्या तुम अपने भाई – मनुष्य जाति – को प्यार करते हो? ईश्वर को कहाँ ढूँढ़ने चले – ये सब गरीब, दुखी, दुर्बल क्या ईश्वर नहीं हैं? पहले इन्हीं की पूजा क्यों नहीं करते? गंगा-तट पर कुआँ खोदने क्यों जाते हो? प्रेम की असाध्य-साधिनी शक्ति पर विश्वास करो। इस झूठी जगमगाहट वाले नाम-यश की परवाह कौन करता है? समाचार-पत्रों में क्या छपता है, क्या नहीं, इसकी मैं कभी खबर ही नहीं लेता? क्या तुम्हारे पास प्रेम है? तब तुम सर्वशक्तिमान हो। क्या तुम पूर्णत: नि:स्वार्थ हो? यदि हाँ, तो फिर तुम्हें कौन रोक सकता है? चरित्र की ही सर्वत्र विजय होती है। भगवान ही समुद्र के तल में भी अपनी सन्तानों की रक्षा करते हैं। तुम्हारे देश के लिये वीरों की आवश्यकता है – वीर बनो।[६०]

व्यष्टि (व्यक्ति) का जीवन समष्टि (समाज) के जीवन पर निर्भर है; समष्टि के सुख में व्यष्टि का सुख निहित है; समष्टि के बिना व्यष्टि का अस्तित्व ही असम्भव है, यही अनन्त सत्य जगत् का मूल आधार है। अनन्त समष्टि के साथ सहानुभूति रखते हुये उसके सुख में सुख और उसके दु:ख में दु:ख मानकर धीरे-धीरे आगे बढ़ना ही व्यष्टि का एकमात्र कर्तव्य है। और कर्तव्य ही क्यों? इस नियम का उल्लंघन करने से उसकी मृत्यु होती है और पालन करने से वह अमर होता है।[६१]

यदि इस संसाररूपी नरककुण्ड में एक दिन के लिये भी किसी व्यक्ति के चित्त में थोड़ा-सा आनन्द एवं शान्ति प्रदान की जा सके, तो उतना ही सत्य है, आजन्म मैं तो यही देख रहा हूँ – बाकी सब कुछ व्यर्थ की कल्पनाएँ हैं।[६२]

दुर्बलता ही मृत्यु है

कमजोर न तो इहलोक के योग्य है, न किसी परलोक के। दुर्बलता से मनुष्य गुलाम बनता है। दुर्बलता से ही सब प्रकार के शारीरिक और मानसिक दु:ख आते हैं। दुर्बलता ही मृत्यु है। लाखों-करोड़ों कीटाणु हमारे आसपास हैं, परन्तु जब तक हम दुर्बल नहीं होते, जब तक शरीर उनके उपयुक्त नहीं होता, तब तक वे हमें कोई हानि नहीं पहुँचा सकते। ऐसे करोड़ों दु:खरूपी कीटाणु हमारे आसपास क्यों न मँडराते रहें, कुछ चिन्ता न करो। जब तक हमारा मन कमजोर नहीं होता, तब तक उनकी हिम्मत नहीं कि वे हमारे पास फटकें, उनमें ताकत नहीं कि वे हम पर हमला करें। यह एक बड़ा सत्य है कि बल ही जीवन है और दुर्बलता ही मरण। बल ही अनन्त सुख तथा अमर और शाश्वत जीवन है और दुर्बलता ही मृत्यु।[६३]

देखो, हम सभी कैसे बहेलिये द्वारा खदेड़े हुये खरगोश की भाँति भागते हैं, उसी की भाँति मुँह छिपाकर अपने को निरापद मानते हैं। ऐसे ही जो कुछ यह समग्र संसार भीषण दीखता है, देखो, यह कैसे उससे भागने की चेष्टा करता है। एक बार मैं काशी में एक जगह से गुजर रहा था, वहाँ एक ओर बड़ा तालाब और दूसरी तरफ एक ऊँची दीवाल थी। उस स्थान पर बहुत-से बन्दर थे। काशी के बन्दर बड़े-बड़े होते हैं और कभी-कभी बड़े दुष्ट भी। उन्होंने मुझे उस रास्ते पर से न जाने देने का निश्चय किया। वे विकट चीत्कार करने लगे और आकर मेरे पैरों से लिपटने लगे। उन्हें देखकर मैं भागने लगा, किन्तु मैं जितना तेज दौड़ने लगा, वे उससे अधिक तेजी से आकर मुझे काटने लगे। उनके हाथ से छुटकारा पाना असम्भव-सा लगा। ठीक तभी एक अपरिचित व्यक्ति ने मुझे आवाज दी, 'बन्दरों का सामना करो'; और मैं जैसे ही पलटकर उनके सामने खड़ा हुआ, वे पीछे हटकर भाग गये। जीवन में हमको यह शिक्षा लेनी होगी – जो कुछ भयानक है, उसका सामना करना पड़ेगा, साहसपूर्वक उसके सामने खड़ा होना पड़ेगा। जैसे बन्दरों के सामने से न भागकर उनका सामना करने पर वे भाग गये, वैसे ही हमारे जीवन में जो कुछ कष्टप्रद बातें हैं, उनका सामना करने पर, वे भाग जाती है। यदि हमें कभी स्वाधीनता पानी हो, तो हम प्रकृति को जीत कर ही उसे प्राप्त करेंगे, प्रकृति से भागकर नहीं। कापुरुष कभी विजयी नहीं हो सकता। हमें भय, कष्ट और अज्ञान के साथ संग्राम करना

होगा, तभी वे हमारे सामने से भाग जायेंगे।[६४]

शक्ति, शक्ति ही वह वस्तु है जिसकी हमें जीवन में इतनी जरूरत है। क्योकि हम जिसे पाप या दु:ख मान बैठे हैं, उसके मूल मे हमारी दुर्बलता ही है। दुर्बलता अज्ञान का और अज्ञान दु:ख का जनक है। यह उपासना ही हमें शक्ति देगी। फलत: दु:ख हमारे लिये उपहासास्पद होगा, हिंसकों की हिंसा की हम हँसी उड़ायेगे और खूँखार चीता अपनी हिंसक प्रवृत्ति के भीतर मेरी अपनी आत्मा को ही अभिव्यक्त करने लगेगा।[६५]

हे मेरे युवा मित्रो, तुम बलवान बनो – तुम्हारे लिये मेरा यही उपदेश है। गीता-पाठ करने की अपेक्षा फुटबाल खेलने से तुम स्वर्ग के कही अधिक निकट होगे। मैंने बड़े साहसपूर्वक ये बाते कही हैं और इनको कहना अत्यावश्यक है। इसलिए कि मैं तुमको प्यार करता हूँ। मै जानता हूँ कि कंकड़ कहाँ चुभता है। मैंने कुछ अनुभव प्राप्त किया है। बलवान शरीर तथा मजबूत पुट्ठों से तुम गीता को अधिक समझ सकोगे। शरीर मे ताजा रक्त रहने से तुम कृष्ण की महती प्रतिभा और महान् तेजस्विता को अच्छी तरह समझ सकोगे। जिस समय तुम्हारा शरीर तुम्हारे पैरो के बल दृढ़ भाव से खड़ा होगा, जब तुम अपने को मनुष्य समझोगे, तब तुम उपनिषद् और आत्मा की महिमा भलीभाँति समझोगे।[६६]

संसार के पाप-अत्याचार आदि की बातें मन में न लाओ, बल्कि रोओ कि तुम्हे जगत् में अब भी पाप दिखता है। रोओ कि तुम्हे अब भी सर्वत्र अत्याचार दिखायी पड़ता है। यदि तुम जगत् का भला करना चाहते हो, तो उस पर दोषारोपण करना छोड़ दो। उसे और भी दुर्बल मत करो। आखिर ये सब पाप दु:ख आदि है क्या? ये सब दुर्बलता के ही फल हैं। लोग बचपन से ही शिक्षा पाते हैं कि वे दुर्बल है, पापी हैं। ऐसी शिक्षा से संसार दिन-पर-दिन दुर्बल होता जा रहा है। उन्हें बताओ कि वे सब उसी अमृत की सन्तान हैं – और तो और, जिसमे आत्मा का प्रकाश अत्यन्त क्षीण है, उसे भी यही शिक्षा दो। बचपन से ही मस्तिष्क में ऐसे विचार प्रविष्ट हो जायँ, जिनसे उनकी सच्ची सहायता हो सके, जो उनको सबल बना दे, जिनसे उनका कुछ यथार्थ हित हो। दुर्बलता और अवसाद-कारक विचार उनके मन में प्रवेश ही न करें। सच्चिदानन्द के स्रोत मे शरीर को बहा दो, मन से सर्वदा कहते रहो, 'मैं ही वह हूँ, मैं ही वह हूँ।' तुम्हारे मन में दिन-रात यह बात संगीत की भाँति झंकृत होती रहे और मृत्यु के समय भी तुम्हारे अधरों पर **सोऽहं सोऽहम्** खेलता रहे। यही सत्य है – जगत् की अनन्त शक्ति तुम्हारे भीतर है। जो अन्धविश्वास तुम्हारे मन को ढँके हुए हैं, उन्हें भगा दो। साहसी बनो। सत्य को जानो और उसे जीवन में परिणत करो। चरम लक्ष्य भले ही बहुत दूर हो, पर उठो, जागो और जब तक ध्येय तक पहुँच न जाओ, तब तक मत रुको।[६७]

निर्बल व्यक्ति, जब सब गँवाकर अपने को कमजोर महसूस करते हैं, तब पैसे बनाने की बेसिर-पैर की तरकीबें अपनाते हैं और ज्योतिष आदि का सहारा लेते हैं। संस्कृत में कहावत है – "जो कापुरुष और मूर्ख है, वह कहता है यह भाग्य है। लेकिन बलवान पुरुष वह है, जो खड़ा हो जाता है और कहता है – मैं अपने भाग्य का निर्माण करूँगा।" जो लोग बूढ़े होने लगते हैं, वे भाग्य की बातें करते हैं। साधारणत: जवान आदमी ज्योतिष का सहारा नहीं लेते। हम लोग ग्रहों के प्रभाव में हो सकते हैं, पर इसका हमारे लिए अधिक महत्त्व नहीं है।

नक्षत्रों को आने दो, हानि क्या है? यदि कोई नक्षत्र हमारे जीवन में उथल-पुथल करता है, तो उसका मूल्य एक कौड़ी भी नहीं है। तुम अनुभव करोगे कि ज्योतिष और ये रहस्यमयी वस्तुयें बहुधा दुर्बल मन की द्योतक हैं; अत: जब हमारे मन में इनका उभार हो, तब हमे किसी डॉक्टर के यहाँ जाना चाहिये, उत्तम भोजन और विश्राम करना चाहिये।[६८]

मैं जो भी शिक्षा देता हूँ, उसके लिये मेरी पहली अनिवार्य शर्त है – जिस किसी वस्तु से आध्यात्मिक, मानसिक या शारीरिक दुर्बलता उत्पन्न हो, उसे पैर की अँगुलियों से भी मत छुओ। मनुष्य में जो स्वाभाविक बल है, उसकी अभिव्यक्ति धर्म है। असीम शक्ति का स्प्रिंग इस छोटी-सी काया में कुण्डली मारे विद्यमान है और वह स्प्रिंग अपने को फैला रहा है। और ज्यों-ज्यों यह फैलता है, त्यों-त्यों एक के बाद दूसरा शरीर अपर्याप्त होता जाता है; वह उनका परित्याग कर उच्चतर देह धारण करता है। यही है – मनुष्य का धर्म, सभ्यता या प्रगति का इतिहास। वह भीमकाय बद्धपाश प्रोमीथियस* अपने को बन्धन-मुक्त कर रहा है। यह सदैव बल की अभिव्यक्ति है और फलित ज्योतिष जैसी सभी कल्पनाओं को, यद्यपि उनमें सत्य का एक कण हो सकता है, दूर ही रखना चाहिये।[६९]

❖ (क्रमश:) ❖

४७. विवेकानन्द साहित्य, ३.४९-५० ४८. वही, ३.५१
४९. वही, ६.७७ ५०. वही, ३.६४
५१. वही, ९.१७९ ५२. वही, ९.२१६-१७
५३. वही, ३.९ ५४. वही, ५.३९-४०
५५. वही, ९.१८४ ५६. वही, ३.३५५
५७. वही, ३.३३३ ५८. वही, ६.१२
५९. वही, ३.४१-४२ ६०. वही, ३.३२३
६१. वही, ९.२१६ ६२. वही, ८.३९१
६३. वही, ९.१७७ ६४. वही, २.२९७-९८
६५. वही, २.२९० ६६. वही, ५.१३७
६७. वही, २.१९-२० ६८. वही, ९.१५४-५५
६९. वही, ९.१५५-१५६

* **प्रोमीथियस – यूनान का पौराणिक पुरुष, जिसने मृत्तिका से मनुष्य की रचना की, ओलिम्पस से चुरायी हुयी अग्नि उन्हें दी, उन्हें कला आदि सिखायी और दण्ड रूप में जंजीर द्वारा एक चट्टान से बाँधा गया।**

सुग्रीव-चरित (१/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'सुग्रीव-चरित' पर कुल ३ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत लेख उसके प्रथम प्रवचन का पूर्वार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में प्राध्यापक है। – सं.)

सुग्रीव के चरित्र को यदि हम बहिरंग दृष्टि से देखें, तो ऐसा प्रतीत होता है कि उनमें अनेक दोष तथा कमियाँ हैं। पर दूसरी ओर उतना ही आश्चर्य यह देखकर होता है कि अनेक दोष एवं दुर्बलताओं के होते हुए भी सुग्रीव ने बड़ी सरलता से ईश्वर को पा लिया और प्रभु ने उन्हें असाधारण गौरव प्रदान किया। इसका रहस्य क्या है?

'मानस' मे किष्किन्धा-काण्ड के प्रारम्भ में हमें सुग्रीव का चरित्र मिलता है। भगवान श्रीराम अपने प्रिय अनुज लक्ष्मण के साथ जनकनन्दिनी श्री सीता जी की खोज में ऋष्यमूक पर्वत के पास पहुँचते हैं। वहाँ ऋष्यमूक पर्वत पर बैठे हुए सुग्रीव ने जब उन्हें आते हुए देखा, तो उनके मन में बड़े आतंक की सृष्टि हुई और उन्हे आशंका हुई कि सम्भवत: बालि ने इन्हें मेरा वध करने के लिये भेजा है। तब वे हनुमान जी से बोले कि आप जाकर पता लगाइये कि ये कौन हैं और इधर क्यों आ रहे हैं? यदि ये बालि के द्वारा भेजे हुए मुझे मारने आ रहे हों, तो आप तत्काल संकेत कर दीजिये, ताकि मैं यहाँ से भाग जाऊँ।

हमारे समक्ष आनेवाला सुग्रीव का यह पहला चित्र है। इसे देखकर बड़ा विचित्र-सा लगता है और ऐसा प्रतीत होता है कि जिस व्यक्ति मे ईश्वर को पहचानने की क्षमता नहीं है, जिसके हृदय में ईश्वर को देखकर ऐसे सन्देह का उदय हुआ हो कि ये बालि के भेजे हुए मुझे मारने आ रहे हैं, ऐसा व्यक्ति तो किसी भी प्रकार से प्रशंसा का पात्र नहीं हो सकता। किन्तु सुग्रीव को गोस्वामी जी ने भिन्न-भिन्न सन्दर्भों में कई दृष्टियो से देखा है।

सुग्रीव के चरित्र के सम्बन्ध में गोस्वामी जी ने कुछ सूत्र दिये है, उनकी ओर मैं आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा। विनय-पत्रिका में गोस्वामी जी स्वयं अपनी तुलना सुग्रीव से करते हैं। सुग्रीव का चरित्र गोस्वामी जी के अत्यन्त प्रिय चरित्रो में से एक है। श्री भरत, श्री हनुमान जी, श्री लक्ष्मण जी का चरित्र तो उनकी दृष्टि में वन्दनीय है ही, लेकिन व्यक्तिगत रूप से सुग्रीव के चरित्र को वे अपने अतीव सन्निकट पाते हैं। विनय-पत्रिका में उन्होंने भगवान राम से कहा – प्रभो, सुग्रीव ने आपकी कौन-सी सेवा की और कब उसने आपसे प्रेम का निर्वाह किया, जिसके कारण आपने बालि का वध करके स्वयं लोक में आलोचना के पात्र बने? –

का सेवा सुग्रीव की,
प्रीति-रीति-निरबाहु।
जासु बन्धु बध्यो ब्याध ज्यों
सो सुनत सोहात न काहु ।। विनय., १९३

जब गोस्वामी जी ने कहा – आपने सुग्रीव के भाई को व्याध की तरह मारा, तो प्रभु ने मुस्कुराकर पूछा – क्या तुम भी मुझ पर यह आरोप लगा रहे हो? तो उन्होंने तुरन्त अगला वाक्य जोड़ दिया। बोले – "क्या करूँ? जितने भी लोग मुझसे मिलते हैं, सब आपके इस कार्य की आलोचना करते हैं। आप तो लोकमत का बड़ा सम्मान करते हैं और लोग आपके इस कार्य की बड़ी आलोचना करते हैं।"

आज भी श्रीराम के चरित्र की चर्चा करते हुए कुछ प्रसंगों में उनकी आलोचना की जाती है, उनमें से एक प्रसंग यह सुग्रीव का भी है। यह एक बड़ा तथ्य है कि भगवान राम ने पक्षपात किया, सुग्रीव का पक्ष लेकर उन्होंने बालि का वध अन्यायपूर्वक छिपकर किया। भगवान ने पूछा – "तुम मुझे इसकी याद क्यों दिला रहे हो? क्या तुम कहना चाहते हो कि मैंने यह ठीक नहीं किया?" गोस्वामी जी बोले – नहीं महाराज, मैं तो स्वार्थवश आपको इसकी याद दिला रहा हूँ। – क्या? बोले – अन्य लोग भले ही इस घटना को पढ़कर या सुनकर अपकी आलोचना करें, पर मैं तो मन-ही-मन बड़ा प्रसन्न होता हूँ। – क्यों? बोले – महाराज, जब मैं देखता हूँ कि सुग्रीव जैसे व्यक्ति के लिये आप इतना बड़ा कलंक ले सकते है, तो मुझ जैसे व्यक्ति को भी शरण में लेने से जो कलंक आपको लगेगा, उसे सहज उठाने की क्षमता आपमें है। आप यदि किसी श्रेष्ठ पात्र के लिये कलंक लेते, तो मैं समझता कि आप उस व्यक्ति की श्रेष्ठता से प्रभावित होकर उसके लिये आपने यह कलंक लिया। लेकिन मेरे लिये तो सबसे बड़ा आश्वासन यही है कि आपने सुग्रीव को शरण में लिया और गाली सहकर भी आपने बालि का वध किया –

हत्यो बालि सहि गारी ।। विनय., १६६

इसी प्रकार मेरे मन मे भी यह आशा बँधती है कि मुझ जैसे व्यक्ति को भी आप अपनी शरण में स्वीकार कर सकते हैं। इसी तरह से गोस्वामी जी ने दोनों ही बातें कही – वे सुग्रीव के चरित्र की दुर्बलताओं की ओर भी संकेत करते हैं

और स्वयं को सुग्रीव के चरित्र के अत्यन्त सन्निकट पाते हैं। इसका अभिप्राय क्या हुआ? इस पर थोड़ी गहराई से विचार करें। कई बार लोग मुझसे भी यह प्रश्न पूछते हैं कि श्री भरत जैसा प्रेम हमारे जीवन में कैसे आये? तो मैं उनसे विनम्रतापूर्वक अनुरोध करता हूँ कि भरत बनने की बात बाद में कीजियेगा, पहले सुग्रीव की चर्चा प्रारम्भ कीजिये तो अच्छा रहेगा। श्री भरत का चरित्र तो जीवन की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है।

अलग-अलग सन्दर्भों में गोस्वामी जी ने कुछ संकेत-सूत्र दिये हैं। एक सूत्र तो उन्होंने यह दिया कि जीव तीन प्रकार के होते हैं – विषयी, साधक और सिद्ध –

बिषई साधक सिद्ध सयाने।
त्रिबिध जीव जग बेद बखाने।। २/२७७/३

अब इन तीनों में भगवान को पाने का अधिकारी कौन है? इसके उत्तर में तो कोई भी कह देगा कि जो सिद्ध पुरुष है, वही भगवान को पाने का अधिकारी है, उसने ईश्वर को पा लिया है। जो साधक है, वह ईश्वर को पाने की चेष्टा कर रहा है। पर जहाँ विषयी का प्रश्न है, क्या वह भी ईश्वर को पाने का अधिकारी है? क्योंकि सबसे बड़ी समस्या यह है कि संसार में सिद्ध और साधक की संख्या बहुत कम है। संसार में भोग्य विषयों के प्रति स्वाभाविक आकर्षण रखनेवाले जितने लोग हैं, जिन्हें विषयी कह सकते हैं, उन्हीं की संख्या सबसे अधिक है। सुग्रीव का चरित्र इसी प्रकार का एक चरित्र है। इस सन्दर्भ में सुग्रीव की भगवत्-प्राप्ति का क्या तात्पर्य है? इसका एक तात्पर्य तो यह है कि विषयासक्ति जन्य दुर्बलताओं से युक्त सुग्रीव जैसा विषयी व्यक्ति भी भगवान का कृपापात्र हो सकता है, ईश्वर को पा सकता है। यह व्यक्ति के लिए विषयी बनने की प्रेरणा नहीं। इसका अर्थ यह नहीं कि जो विषयी नहीं है वह विषयी बनने की चेष्टा करे। इन दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है। यह तो विषयी व्यक्ति के लिये एक आश्वासन है।

किसी ने गोस्वामी जी से पूछ दिया कि आप विषयी को किस दृष्टि से देखते हैं? उन्होंने एक नया सूत्र दिया। बोले –

बिषई साधक सिद्ध सयाने।
त्रिबिध जीव जग वेद बखाने।।
राम सनेह सरस मन जासू।
साधु सभा बड़ आदर तासू।। २/७७/३-४

गोस्वामी जी कहते हैं कि चाहे कोई विषयी हो, चाहे साधक या सिद्ध – जिसके भी मन में भगवान राम के चरणों के प्रति स्नेह विद्यमान है, साधुजन उनका सम्मान करते हैं। इसका तात्पर्य क्या है? यहीं पर आप उस विचित्र विरोधाभास का दर्शन करते हैं, जिसमें एक ओर सुग्रीव हैं और दूसरी ओर हनुमान जी। अब यह सुग्रीव और हनुमान जी का संग तो किसी प्रकार से संगत प्रतीत नहीं होता। हनुमान जी तो सिद्धों के सिद्ध, परम सिद्ध हैं, ज्ञानियों में अग्रगण्य हैं। वे मूर्तिमान वैराग्य हैं, बाल-ब्रह्मचारी हैं। हनुमान जी का चरित्र तो सुग्रीव के चरित्र से बिल्कुल उल्टा है। हनुमान जी के चरित्र में निर्भयता है, सेवा है, न जाने कितने सद्गुण हैं। दूसरी ओर सुग्रीव के चरित्र में इतनी दुर्बलतायें हैं कि विचार करके देखें तो हनुमान जी को सुग्रीव के साथ रहना ही स्वीकार नहीं करना चाहिये; और अगर रहते भी तो सुग्रीव के पूज्य बनकर रहते, तब भी कोई बात होती कि भाई ठीक है, सुग्रीव विषयी है और वे सिद्ध हनुमान जी की पूजा करते हैं, उनके चरणों में नमन करते हैं। पर आप बड़ी विलक्षण बात देखेंगे। रामायण में बिल्कुल उल्टी बात है। क्या? हनुमान जी सुग्रीव के चरणों में प्रणाम करते हैं। यह कैसी विचित्र बात है। हनुमान जी तो सुग्रीव को इतना महत्त्व देते हुए दिखायी दे रहे हैं कि गोस्वामी जी कहते हैं, प्रभु का राज्याभिषेक हो जाने के बाद जब सारे बन्दरों को विदा किया जाने लगा, तब अंगद ने प्रभु से प्रार्थना की – प्रभु, आप मुझे अपनी सेवा में रख लीजिए, मैं अयोध्या में ही रहना चाहता हूँ। मुझे आप किष्किन्धा लौटने की आज्ञा न दीजिए। प्रभु ने उन्हें हृदय से लगाकर उनके प्रति बड़ा प्रेम प्रगट किया, पर उन्होंने उनकी प्रार्थना स्वीकार नहीं की। प्रभु ने उनसे किष्किन्धा लौट जाने का आग्रह किया। इस प्रकार जब सारे बन्दरों को विदा कर दिया गया और वे सब जाने लगे, तो हनुमान जी भी चुपचाप उनके साथ चल पड़े। यह देखकर लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ कि अरे, हम तो सोचते थे कि हनुमान जी तो प्रभु को छोड़कर एक क्षण के लिये भी अलग नहीं होंगे। पर ये चले कैसे जा रहे हैं, इनको तो किसी ने विदा भी नहीं किया, किसी ने जाने के लिये भी नहीं कहा, फिर भी चले जा रहे हैं। लेकिन इसका रहस्य तो बाद में खुला कि हनुमान जी ने ऐसा क्यों किया? जब सारे बन्दर अयोध्या से लौट गये, तो हनुमान जी ने एक अनोखा कार्य किया। क्या? अंगद ने प्रार्थना की प्रभु से और हनुमान जी ने प्रार्थना की सुग्रीव से। लेकिन गोस्वामी जी कहते हैं कि हनुमान जी ने सुग्रीव से केवल प्रार्थना ही नहीं की बल्कि –

तब सुग्रीव चरन गही नाना।
भाँति विनय किन्हें हनुमाना।। ७/१९/७

वे सुग्रीव के चरणों में गिर पड़े और बहुत प्रकार से उनकी विनती की, स्तुति की और बड़े विनम्र शब्दों में सुग्रीव से कहा कि आप मुझे आज्ञा दीजिये –

दिन दस करि रघुपति पद सेवा।
पुनि तव चरन देखिहऊँ देवा।। ७/१९/८

दस दिनों तक प्रभु के चरणों की सेवा करने के बाद मैं आपके चरणों को देखूँगा। सुग्रीव गद्गद हो जाते हैं, हनुमान जी को हृदय से लगा लेते हैं और उनसे यही कहते हैं –

पुन्य पुंज तुम्ह पवनकुमारा।
सेवहु जाइ कृपा आगारा।। ७/१९/९

तब हनुमान जी लौटकर आते हैं। पर बड़ी अनोखी बात है, अंगद ने सीधे प्रभु से प्रार्थना की वह अस्वीकृत हो गई और हनुमान जी ने एक बार भी प्रभु से नहीं कहा, उन्होंने सुग्रीव से प्रार्थना की। सुग्रीव ने जब उन्हें प्रभु की सेवा में रहने का आदेश दिया, तब अंगद को लगा कि कहीं-न-कहीं मैं भूल कर बैठा। तब अंगद ने हनुमान जी को प्रणाम करके कहा – आप जाकर प्रभु को मेरी याद दिलाते रहियेगा –

कहेहु दंडवत प्रभुसैं तुम्हहिं कहउँ कर जोरि।
बार बार रघुनायकहि सुरति कराएहु मोरि।।७/१९

इस प्रकार हनुमान जी लौटकर आते हैं। उनके लौट आने पर प्रभु उनसे यह भी नहीं पूछते कि तुम चले कैसे गये थे और लौट कैसे आये।

हनुमान जी की दृष्टि क्या है? उनकी दृष्टि का तात्पर्य यदि सही अर्थों में लें तो मानो यह एक बड़े महत्त्व का सूत्र है। ईश्वर को पाने के मार्ग में सद्‌गुण साधक है या बाधक? तो इसका उत्तर यही है कि सद्‌गुण तो जीवन में परम उपादेय है, परम हितकर है और व्यक्ति के जीवन में सद्‌गुणों का संग्रह होना चाहिए। हनुमान जी के लिये तो यही कहा गया है – **सकल गुण निधानम्** – हनुमान जी समस्त गुणों के निधान हैं। लेकिन इसका दूसरा पक्ष भी है और वह बड़ा सूक्ष्म है, जिसे हम भगवान की कृपा का पक्ष कहते हैं। कृपा के पक्ष में सबसे बड़ी समस्या कब आ जाती है? जब व्यक्ति को अपनी विशेषता का भान हो जाता है। गुण हो और अपने को गुणी समझने की वृत्ति न हो, यह बहुत कठिन है। ऐसे व्यक्ति तो बड़े विरल ही होते हैं, जिनमें गुणाभिमान न हो। जहाँ गुण है वहाँ गुणाभिमान भी है। बल्कि रामायण में तो एक बड़ा सूक्ष्म संकेत आता है कि परशुराम जी के पास धनुष है और यही धनुष उनके पास से भगवान राम के पास चला जाता है। आगे चलकर भगवान राम इसी धनुष से रावण का वध करते हैं। बड़ी विलक्षण-सी बात है, जिस धनुष के द्वारा रावण का वध किया गया, वह परशुराम जी के पास न जाने कब से था। पर इतना होते हुए भी रावण का वध उनके द्वारा पूरा नहीं हुआ। वह पूरा होता है, भगवान श्री राघवेन्द्र के द्वारा ही। उसके बाद भी सबसे बड़ी विलक्षणता यह है कि जिस समय भगवान श्री राघवेन्द्र लंका विजय के बाद लौटकर अयोध्या आये, तो उन्होंने वह धनुष गुरु वशिष्ठ के चरणों में रख दिया –

बामदेव बसिष्ठ मुनि नायक।
देखे प्रभु महि धरि धनुसायक।। ७/५/२

गोस्वामी जी यहाँ एक सूत्र देते हैं कि यहाँ पर दो धनुष आते हैं – एक धनुष तो वह जो तोड़ा गया और दूसरा धनुष वह जो खींचा गया। जो धनुष तोड़ा गया, उसके टूटने के बाद सीता जी के द्वारा भगवान श्रीराम के गले में जयमाल अर्पित किया जाता है और उस धनुष के टूटने के बाद जब परशुराम जी आते हैं, तो वे भी एक धनुष लेकर आते हैं। और इस प्रसंग की समाप्ति तब होती है, जब परशुराम जी के हाथ से निकलकर वह धनुष अपने आप खिंचकर भगवान राम के पास चला जाता है। संकेत सूत्र क्या है? भगवान राम का धनुष क्या है? यह भगवान शंकर का वही धनुष है, जिसके द्वारा उन्होंने त्रिपुरासुर का संहार किया था। जिस त्रिपुरासुर का संहार करना देवताओं को असम्भव लग रहा था, उसका वध जिस धनुष पर बाण सन्धान करके संहार किया गया, यह वही धनुष था। पर बड़ी अनोखी बात है, जिस धनुष के द्वारा इतनी बड़ी विजय प्राप्त हुई, भगवान शंकर ने उसका त्याग कर दिया। भगवान श्रीराम के द्वारा धनुष का परित्याग और भगवान शंकर के द्वारा धनुष का परित्याग, इसका अभिप्राय क्या है? साधारणतया तो यही जान पड़ता है कि धनुष का चढ़ाना और धनुष का चलाना ही योग्यता की सबसे बड़ी कसौटी है। बल्कि परशुराम जी ने तो प्रारम्भ में जनक जी पर यही आक्षेप किया। उन्होंने जब पूछा कि धनुष किसने तोड़ा, तो उन्होंने इसे इन्हीं शब्दों में कहा –

कहु जड़ जनक धनुष के तोरा।। १/२७०/३

'अरे मूर्ख जनक' – जो इतने बड़े ज्ञानी के रूप में प्रसिद्ध थे, परशुराम जी ने उन्हें मूर्ख कहकर सम्बोधित किया। अब यदि कोई परशुराम जी से पूछे कि आप इन्हें मूर्ख क्यों कह रहे हैं? तो उन्होंने कहा कि धनुष के द्वारा जब किसी की परीक्षा ली जाने की बात आती है, तो उसे धनुष पर बाण चढ़ाकर लक्ष्य-वेध करने के लिये कहा जाता है। किसी योद्धा की परीक्षा इसी तरह ली जाती है। ऐसी स्थिति में जनक ने भी कोई लक्ष्य रखा होता और कह देता कि जो इस लक्ष्य का वेध कर देगा, उसे मैं अपनी कन्या सीता को अर्पित करूँगा। उनकी यह प्रतिज्ञा विधिसंगत होती। लेकिन यह प्रतिज्ञा करना कि जो धनुष तोड़ेगा ...। अब धनुष चलाने की वस्तु है कि तोड़ने की? यही उनकी परिभाषा है कि जो धनुष तोड़ने की प्रतिज्ञा करता है, वह मूर्ख है। यों तो परशुराम जी का कहना बाहर से ठीक ही लग रहा है। जनक जी कुछ बोले तो नहीं, पर उनके मन में एक बात आयी, बोले – महाराज, मैंने ऐसा क्यों किया, इसका उत्तर आप चाहें तो अपने गुरु भमवान शंकर से पूछ लें। – क्यों? बोले – शंकर जी ने यदि धनुष के साथ बाण भी दिये होते, तो मैं चलवाकर देखता। पर अगर धनुष के साथ उन्होंने बाण नहीं दिये, तो बताइए कि उस धनुष को रखा जाय या तुड़वाया जाय। इसका तात्त्विक संकेत यह है कि लक्ष्य-वेध के बाद और कुछ करना बाकी है या नहीं? लक्ष्य-वेध ही तो वह अन्तिम उपलब्धि नहीं है। इसका अभिप्राय यह है कि लक्ष्य-वेध के बाद भी जिस साधन से लक्ष्य-वेध किया गया और वह लक्ष्य-वेध करनेवाला, दोनों जब तक इस वृत्ति से मुक्त नहीं हो जाते कि मेरे द्वारा लक्ष्य-

वेध किया गया, तब तक कार्य पूर्ण नहीं होता। इसे वेदान्त की भाषा में, रामायण की भाषा में 'कृतकृत्य' कहा गया है। उसके लिये यही शब्द है। लक्ष्य-वेध के बाद कृतकृत्यता का बोध हुआ कि नहीं? और कृतकृत्यता का बोध हुआ, इसका अर्थ है कि अब कोई कर्म करना शेष नहीं रहा।

यदि हम इसे साधारण शब्दों में कहें, तो इसका अभिप्राय यह है कि यह मन ही त्रिपुरासुर है। पुराणों मे त्रिपुरासुर के लिये कहा गया है कि वह तीन नगरो मे विहार करता रहता है। जब उसके किसी एक नगर पर प्रहार किया जाता है, तब वह दूसरे नगर मे चला जाता है। उसे यह वरदान प्राप्त हैं कि जब तक इन तीनों नगरों पर एक साथ प्रहार नही किया जायेगा, तब तक उसकी मृत्यु नही होगी। उस त्रिपुरासुर का वध करने के लिये जो भी उस पर प्रहार करता है, वह एक ही नगर पर करता है, इसलिए उस दैत्य का वध किसी के लिये भी सम्भव नही हो पाता। गोस्वामी जी का और पुराणों का अभिप्राय यह है कि मन के ये जो त्रिविध विकार है – काम, क्रोध और लोभ – ये ही वे तीन पुर हैं, जहाँ मन रूपी यह असुर विहार करता रहता है। इन तीनो नगरो को यदि हम अलग-अलग जीतने की चेष्टा करेंगे, तो कभी भी उस पर विजय प्राप्त नही कर सकेंगे। कभी हम काम पर विजय पा लगे, तो लोभ के द्वारा ग्रसे जायेंगे; लोभ पर विजय पा लेंगे, तो क्रोध के द्वारा ग्रसे जायेगे। एक-न-एक विचार हमारे जीवन मे बना रहेगा।

जिस धनुष के द्वारा शंकर जी ने त्रिपुरासुर का संहार किया, वह धनुष क्या है? ऐसा साधन, जिसके द्वारा हम मन पर प्रहार करते है, विजय प्राप्त करते है। उस साधन के लिये भी तो अन्ततः सात्त्विक अहंकार की आवश्यकता होती है। यह शंकर जी का धनुष मानो सात्त्विक अहंकार का प्रतीक है। सात्त्विक अहकार के द्वारा साधना की जाती है। इस साधना का लक्ष्य है मन पर विजय प्राप्त करना। जब मन पर विजय प्राप्त हो गया, धनुष का उद्देश्य पूरा हो गया, तब भगवान शंकर ने क्या किया? धनुष ने भगवान शंकर से बहुत बढ़िया प्रश्न किया। धनुष ने कहा – महाराज, मैंने सुना है कि आप सारे संसार के मुक्तिदाता है, सबको मुक्ति देते हैं, लेकिन मुझे तो इसमें सन्देह हो रहा है। – क्यो? बोले – आप सबको मुक्ति देते है, पर मुझे तो बाँधते हैं। बाण चलाने के लिये धनुष को रस्सी से बाँधा जाता है। धनुष ने कहा – क्या मेरी मुक्ति का कोई उपाय नही है? शंकर जी ने बहुत बढ़िया बात कही – जब तक तुम रहोगे, बँधते ही रहोगे; जब टूट जाओगे, तभी इस बन्धन से छूटोगे। यह पते की बात है। जब तक 'मैं' है, तब तक बन्धन से मुक्ति नही है। व्यक्ति चाहे जितना श्रेष्ठतम कार्य क्यों न करे, उसे बँधना ही पड़ेगा। भगवान शंकर ने कहा कि यदि तुम मुक्ति चाहते हो, तो इसका एक ही उपाय है। – क्या? अपने आप में सत्ता का अभाव। तब इसके लिये क्या करें? शंकर जी ने कहा – त्रिपुरासुर का संहार तो हो चुका, अब हम तुम्हे जनक जी को सौंप देते हैं और ध्यान रखना जब जनक जी के यहाँ भगवान श्रीराम आयें, तो टूटने मे देर न करना। धनुष ने कहा – यदि टूटने से ही मुक्ति मिलती है, तो आप ही तोड़ दीजिये, मुक्ति मिल जायेगी। शंकर जी ने कहा – नही, मैं तुम्हे छोड़ूँगा और ईश्वर तुम्हे तोड़ेगा। बस यह महत्त्व की बात है। अभिमान छोड़ने की चेष्टा हमें करनी है, पर इसको तोड़ना तो ईश्वर के लिये ही सम्भव है। उसे और कोई नही तोड़ सकता। इस प्रकार वहाँ तोड़ने और छोड़ने की प्रक्रिया सम्पन्न होती है। इसका अभिप्राय क्या हुआ? इसे आध्यात्मिक सन्दर्भ में यों कहे कि सात्त्विक अभिमान मानो भगवान के हाथों मे पहुँचकर खण्डित हो गया और कितने अच्छे ढंग से टूटा! बड़े काम की बात है। भगवान श्रीराम जब धनुष के पास पहुँचे, तो देखने लगे कि इस धनुष का केन्द्र कहाँ है? उन्होंने देखा कि धनुष का जहाँ ठीक बीच वाला भाग है –

तेहि छन राम मध्य धनु तोरा। १/२६१/८

लक्ष्मण जी ने पूछा – महाराज, धनुष को तो आप कहीं से भी तोड़ सकते थे, बीच से ही क्यो तोड़ा? भगवान राम ने कहा – लक्ष्मण, अभिमान न तो जन्म के साथ होता है और न मृत्यु के समय; यह तो बीच मे ही होता है, इसे तो बीच में ही तोड़ना है। बस, इसे बीच में ही तोड़ दीजिये, अभिमान पर विजय प्राप्त हो गयी। यह अभिमान के टूटने की प्रक्रिया सम्पन्न हुई। मानो सात्त्विक अभिमान खण्डित होकर ईश्वर के चरणो में अर्पित हो गया। प्रभु ने धनुष को उठाया, मध्य से धनुष टूटा और टूटने के पश्चात् जब गिरा, तो प्रभु के चरणों में गिरा। यह है अहंकार का विसर्जन, सात्त्विक अहंकार का ईश्वर के चरणों में समर्पित हो जाना।

अब जो परशुराम जी के पास दूसरा धनुष है, इसमें क्या संकेत है? गोस्वामी जी और हमारे इन पुराणों के संकेत कितने महत्त्व के हैं। बड़ी विलक्षण बात है। परशुराम जी धनुष भी धारण करते हैं और फरसा भी, पर उनका नाम धनुषराम नही, परशुराम पड़ा। जब उनके पास धनुष भी है, तो उनका नाम धनुषराम होना था, परशुराम ही क्यों? इसका सांकेतिक अर्थ यह है कि धनुष और परशु को धर्मरथ के प्रसंग में अलग-अलग गुणों का प्रतीक बताया गया है। धर्मरथ के प्रसंग में आप देखेंगे – दान परशु है। और धनुष क्या है? –

दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा।
बर बिग्यान कठिन कोदंडा।। ६/८०/८

विज्ञान धनुष है। अब इसका अभिप्राय क्या है? परशुराम जी के हाथ मे दान का फरसा है। वह क्या है? सहस्रार्जुन को मिटाने के लिये उन्होंने फरसे का प्रयोग किया। यह सहस्रार्जुन

मूर्तिमान लोभ है। जिसका लोभ इतना बढ़ जाय कि जमदग्नि के कामधेनु को भी छीनने की कोशिश करे, उन पर प्रहार करके भी अपने लोभ की वृत्ति को तृप्त करना चाहे, वह सहस्रार्जुन वस्तुत: लोभ है। परशुराम जी ने फरसे से उनकी भुजाओं को काट दिया। इसका अभिप्राय यह है कि जब समाज मे लोभ बढ़े, तो उसको काटने के लिये दान के फरसे की आवश्यकता है। जितना ही दान किया जायेगा, उतनी ही लोभ की भुजाएँ कटेंगी। यही इसका अभिप्राय है। पर ऐसे परशुराम जी रावण को मारने में समर्थ नहीं हो पाये, क्योंकि रावण मूर्तिमान लोभ नहीं, मोह है –

मोह दशमौलि तद्भ्रात अहंकार
पाकारिजित काम विश्रामहारी ।। विनय., ५८

इसका अभिप्राय क्या है? यह कि लोभ का विनाश दान से हो सकता है, पर मोह का विनाश तो ज्ञान से ही होगा। कितना भी दान दें, पर व्यक्ति दान के द्वारा मोह का विनाश करने मे समर्थ नही होगा। परशुराम जी की समस्या क्या है? उनको दानवाला झण्डा बहुत पसन्द है। बात यह है कि दान मे प्रदर्शन की वृत्ति आ जाना बड़ा स्वाभाविक है और ज्ञान में तो सब कुछ खो देना है। ज्ञान की परिभाषा क्या है? –

ग्यान मान जहँ एकउ नाहीं ।
देख ब्रह्म समान सब माहीं ।। ३/१५/७

ज्ञान की सबसे बड़ी परिभाषा यह है कि व्यक्ति के जीवन में मान का सर्वथा अभाव हो जाय। और दान के साथ प्राय: जो बात जुड़ी हुई होती है, वह क्या है? सम्मान की चाह। अब एक ओर जहाँ ज्ञान में मान का सर्वथा अभाव है, वहाँ दान के साथ मान-सम्मान जुड़ा हुआ है। इसका अभिप्राय यह है कि परशुराम जी के व्यक्तित्व को हम पूर्ण नहीं मानते, क्योकि वे प्रदर्शन की वृत्ति से मुक्त नहीं हुए हैं। वे चाहते हैं, और केवल परशुराम जी ही नहीं, संसार के सारे दानी यही चाहते हैं, जो परशुराम जी चाहते थे। जिस समय परशुराम जी लक्ष्मण जी से बातचीत करते हैं, तब फरसे को ऊपर उठाये रहते हैं। इसके द्वारा वे क्या बताना चाहते हैं? मानो वे कहना चाहते हैं – लक्ष्मण, मेरे फरसे को देख लो। और इसका अर्थ क्या है? यही है दान के प्रदर्शन की वृत्ति – लोग देखे कि मैने कितना दान किया। मेरा दान कितना श्रेष्ठ है। पर लक्ष्मण जी तो अपनी आँखें ऊपर उठा ही नहीं रहे हैं। तब परशुराम जी से रहा नहीं गया। लक्ष्मण जी ने नहीं देखा फरसे की ओर, तो उन्होने सीधे ही कह दिया –

परसु बिलोकु महीप कुमारा ।। १/२७२/८

पहले मेरा फरसा देखो, फिर बात करो। यह तो उनके मन की प्रदर्शन-वृत्ति है, दान के द्वारा आयी हुई अभिमान की वृत्ति उनके मन में विद्यमान है। क्योकि भगवान राम ने जब उन्हें बार-बार ब्राह्मण कहा, तो वे बिगड़ खड़े हुए। बोले – क्या मुझे दान लेनेवाला ब्राह्मण समझ रखा है? मैं माँगनेवाला नहीं, देनेवाला ब्राह्मण हूँ। उन्होंने बड़े गर्व से कहा –

निपटहिं द्विज करि जानहि मोही ।
मैं जस बिप्र सुनावउँ तोही ।।
चाप स्रुवा सर आहुति जानू ।
कोपु मोर अति घोर कृसानू ।।
समिधि सेन चतुरंग सुहाई ।
महा महीप भये पसु आई ।।
मैं एही परसु काटि बलि दीन्हे ।
समर जग्य जप कोटिन्ह कीन्हे ।। १/२८३/१-४
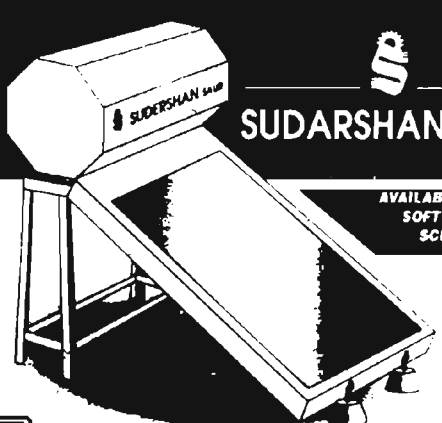
– तू मुझे ऐसा-वैसा ब्राह्मण ही समझता है ! सुन कैसा ब्राह्मण हूँ मैं। मेरे धनुष को स्रुवा, बाण को आहुति एवं मेरे क्रोध को भयंकर अग्नि जान। चतुरंगिनी सेना मेरा यज्ञकाष्ट है; बड़े बड़े राजा उसमें पशु रूप मे आये और उन्हें इसी फरसे से काटकर मैंने बलि दिया। मैने ऐसे सैकड़ो मंत्रयुक्त यज्ञ किये हैं।

तात्पर्य यह है कि ज्ञान-धनुष परशुराम जी के पास भी है। अब उलटकर देखें। क्या ज्ञान होना कठिन है? ज्ञान तो जितने वेदान्त ग्रन्थ हैं, उन्हें पढ़ लीजिये, उससे ज्ञान के स्वरूप का बोध हो जायेगा। बुद्धिगम्य वेदान्त और ज्ञान आपको मिल जायेगा। पर ज्ञान की सार्थकता उसे बुद्धि से समझ लेने में नहीं, बल्कि उसके समुचित सदुपयोग में है।

❖ (क्रमश:) ❖

मृत्यु क्या है?

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, जगदलपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

श्रीमद्-भगवद्-गीता में दूसरे अध्याय के २२ वें श्लोक में मृत्यु का वर्णन करते हुए कहा गया है –

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णानि-
अन्यानि संयाति नवानि देही ।।

- अर्थात् 'जैसे मनुष्य फटे-पुराने कपड़ों को त्यागकर अन्य नये कपड़े पहन लेता है, वैसे ही यह शरीरी आत्मा भी जीर्ण शरीरों को छोड़कर अन्य नये शरीरों में प्रवेश कर जाती है।'

इस श्लोक के अनुसार मृत्यु का अर्थ हुआ एक शरीर को छोड़कर नया शरीर धारण कर लेना। तात्पर्य यह कि मृत्यु के साथ मनुष्य का सब कुछ समाप्त नहीं हो जाता, बल्कि मृत्यु एक नये जीवन में पदार्पण करने का सोपान है। वह दो जीवनों के बीच की अवस्था है, जिसमें से गुजरते हुए जीव नवीन शक्ति और उत्साह प्राप्त करता है।

इसका अर्थ यह नहीं कि किसी का वध कर दिया जाय और यह दलील दी जाय कि मारा गया व्यक्ति मृत्यु के द्वारा नवीन उत्साह प्राप्त करेगा। यह तर्क की तौहीनी होगी। यहाँ तात्पर्य मात्र इतना है कि मनुष्य की स्वाभाविक मृत्यु एक गाढ़ी नींद के समान है, जिसमें से गुजरकर मनुष्य तरोताजा अनुभव करता है।

गीता में मृत्यु की प्रक्रिया का संकेत देते हुए कहा गया है कि जीव का इस पचभौतिक शरीर से निकल जाना ही मृत्यु है। जीव के तीन शरीर माने गये हैं – १. स्थूल शरीर जो दिखाई देता है, २. सूक्ष्म शरीर जो तन्मात्राओं से, प्राण तथा मन, बुद्धि आदि सूक्ष्म शक्तियों से बना है, और ३. कारण शरीर, जो संचित वासनात्मक सस्कारों का कोश है। सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर एक साथ बने रहते हैं, और दोनों मिलकर मनोयत्र कहलाते हैं। स्थूल शरीर को देहयत्र भी कहा जाता है। इन शरीरों के भीतर आत्मा ओत-प्रोत होकर विद्यमान है, जो हमारे भीतर का चैतन्य तत्त्व है। देहयत्र और मनोयत्र दोनों ही जड़, अचेतन हैं, पर दोनों के जड़त्व में एक अन्तर है। देहयत्र स्थूल जड़ कहलाता है और मनोयत्र सूक्ष्म जड़ कहलाता है। यह अन्तर इसलिए है कि देहयत्र आत्मचैतन्य को प्रतिफलित नहीं कर पाता, जबकि मनोयंत्र इस आत्मचैतन्य को प्रतिफलित करता है और इस प्रकार अचेतन होता हुआ भी चैतन्यवान-सा प्रतीत होता है। जब हम आत्मचैतन्य को मनोयत्र के साथ युक्त करके देखते हैं, तो उसे 'जीव' कहते हैं।

अब विचार करें कि मृत्यु क्या है? जब जीव यानि मनोयंत्र देहयंत्र को छोड़कर निकल जाता है, तो उसे मृत्यु कहते हैं। शरीर निर्जीव होकर पड़ा रहता है। तो क्या आत्मा शरीर को छोड़कर निकल गया? नहीं, आत्मा तो सर्वव्यापी है, अतः वह मुर्दे में भी विद्यमान है। तब यह जीव क्या है, जिसके शरीर को छोड़कर निकल जाने से शरीर मुर्दा बन जाता है। यह जीव है मनोयत्र, जो आत्मा के चैतन्य को प्रतिफलित कर चेतन मालूम पड़ता है।

आत्मा का धर्म है चैतन्य और प्राणवत्ता, जैसे अग्नि का धर्म है ताप। पर आत्मा का यह धर्म मनोयत्र के माध्यम से ही प्रकट होता है। जैसे विद्युत का एक धर्म है प्रकाश, पर यह धर्म तभी प्रकट होता है, जब उसे बल्ब आदि का माध्यम प्राप्त होता है। जहाँ भी और जिसमें भी इस मनोयत्र की क्रिया होती है, वहाँ और उसमें आत्मा के चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण हम उसे 'जीवन' या 'प्राणयुक्त' या 'चेतन' कहकर पुकारते हैं। और जहाँ मन की क्रिया नहीं है, उसमें आत्मा का चैतन्य भी प्रकट नहीं होता, इसीलिए हम उसे 'निर्जीव' या 'प्राणहीन' या 'जड़' कहकर सम्बोधित करते हैं।

इसके द्वारा अब मृत्यु की प्रक्रिया को समझा जा सकता है। यह शरीर तब तक जीवित रहता है, जब तक उसके भीतर यह मन, यह अन्तःकरण, यह सूक्ष्म शरीर – या यों कहें, यह मनोयत्र विद्यमान है, क्योंकि उसी के माध्यम से शरीर में आत्मचैतन्य का प्रतिफलन होता है। जब यह मनोयत्र इस स्थूल शरीर से अपनी क्रिया समेटकर बाहर निकल जाता है, तब इसके अभाव में आत्मचैतन्य का प्रतिबिम्बित होना बन्द हो जाता है, यानी आत्मा का चैतन्य-धर्म अपने को प्रकट करनेवाले यत्र के अभाव में पुनः प्रच्छन्न या आवृत हो जाता है। जैसे बल्ब के भीतर फिलामेंट के टूटने पर, विद्युत के रहते हुए भी उसका प्रकाश-धर्म प्रच्छन्न हो जाता है, वैसे ही। ऐसी दशा में, आत्मा के होते हुए भी यह शरीर 'निर्जीव' 'प्राणहीन' या 'जड़' कहकर घोषित होता है और यही मृत्यु की दशा है।

माँ के सान्निध्य में (७३)

श्रीमती सरलाबाला देवी

(भगवान श्रीरामकृष्ण की लीला-सहधर्मिणी माँ श्री सारदा देवी का जीवन दैवी-मातृत्व का जीवन्त-विग्रह था। उनके प्रेरणादायी वार्तालापों के संकलन रूप मूल बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर कथा' से रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद के स्वामी निखिलात्मानन्द जी द्वारा किया हुआ हिन्दी अनुवाद हम अनेक वर्षो से प्रकाशित कर रहे थे। इसी बीच अब तक प्रकाशित अधिकांश अंशों का 'माँ की बातें' नाम से पुस्तकाकार प्रकाशन भी हो चुका है। प्रस्तुत है पूर्वोक्त ग्रन्थ के ही द्वितीय भाग से आगे के अप्रकाशित अंशों का अनुवाद। – सं.)

१९१८ ई. में एक बार कोयलपाड़ा में माँ खूब बीमार पड़ गयीं। उस समय योगेन-माँ और पूजनीय शरत् महाराज (स्वामी सारदानन्द) भी वहीं पर थे। माँ को इस प्रकार बीमार देखकर भी राधू अपनी ससुराल चली गयी। माँ उसे भेजना नही चाहती थीं। माँ ने योगेन-माँ से कहा था, "देख योगेन, राधू मुझे छोड़कर चली गयी।" योगेन-माँ बोलीं, "क्यों नहीं जायेगी, माँ? तुम स्वयं भी तो पैदल ही जाकर दक्षिणेश्वर में ठाकुर के पास ठहरी थी, वह बात क्या स्मरण नहीं है?" माँ थोड़ा-सा हँसकर बोलीं, "सो ठीक है, योगेन।" स्वस्थ होने के बाद माँ कलकत्ते लौट आयीं।

'उद्‌बोधन' भवन में एक दिन वे कह रही थीं, "देखो, राधू जब मेरी माया काटकर चली गयी, तब मैंने सोचा कि लगता है अब मेरा शरीर नहीं रहेगा। परन्तु देखती हूँ कि अब भी ठाकुर का कार्य बाकी पड़ा है।"

योगेन-माँ के मन में एक बार संशय आया – "ठाकुर तो ऐसे त्यागी थे और माँ को देखती हूँ घोर संसारी के समान हैं –भाई तथा भतीजे-भतीजियों को लेकर परेशान हैं। मैं तो कुछ भी समझ नहीं पाती।" एक दिन गंगा के तट पर ध्यान करने बैठकर उन्होंने देखा – ठाकुर सामने खड़े होकर बोल रहे थे, 'देख, गंगा में क्या बहा जा रहा है?" योगेन-माँ ने देखा कि नाल आदि से युक्त एक सद्योजात शिशु गंगा में बहा चला जा रहा है। ठाकुर ने कहा, "गंगा क्या कभी अपवित्र होती हैं? उन्हें क्या कुछ स्पर्श करता है? उसे भी ऐसा ही जानना। उसके ऊपर सन्देह मत लाना। उसे और इसे (अपनी ओर संकेत कर) अभेद समझना।" गंगातट से लौटकर योगेन-माँ ने माँ को प्रणाम करके कहा, "माँ, मुझे क्षमा करो।" माँ बोलीं, "क्यों योगेन, क्या हुआ?" तब योगेन-माँ ने घटना का वर्णन करते हुए कहा, "तुम्हारे विषय में अविश्वास आया था, सो आज ठाकुर ने मुझे दिखला दिया।" माँ थोड़ा हँसकर बोलीं, "तो क्या हुआ? अविश्वास तो आयेगा ही। संशय आयेगा, फिर विश्वास आयेगा। इसी प्रकार तो विश्वास होता है। इसी प्रकार क्रमश: पक्का विश्वास होता है।"

'उद्‌बोधन' में माँ के पास एक भक्त-स्त्री आया करती थी। माँ का उसके प्रति बड़ा स्नेह था। परन्तु उसका स्वभाव उतना अच्छा नहीं था। इस कारण कोई कोई साधु चाहते थे कि वह न आये। यह बात माँ को बताने पर वे बोलीं, "गंगा में कितनी ही अपवित्र चीजें तैरती रहती हैं, गंगा क्या कभी उससे अपवित्र होती हैं?"

एक भक्त माँ से प्रश्न आदि करके चले गये। बाद में माँ स्वयं ही कह रही थी, "देखो बेटी, शरणागत होकर पड़े रहना पड़ता है, तभी तो कृपा होती है।"

एक बार मैंने जप के विषय में माँ से पूछा, "मैं किस प्रकार जप करूँगी?" माँ बोलीं, "तुम जैसे भी जप करोगी, वैसे ही होगा। ठाकुर को सदैव अपना समझती रहना।" बाद में माँ ने हाथ से जप करने की विधि दिखा दी थी।

ठाकुर के देहत्याग के उपरान्त माँ जब वृन्दावन में थीं, उन्हीं दिनों की बातें बताते हुए एक दिन उन्होंने 'उद्‌बोधन' भवन में कहा था, "देखो बेटी, मैंने राधारमण से प्रार्थना की थी, 'प्रभो, मेरी दोषदृष्टि दूर कर दो। मैं कभी किसी के दोष न देख सकूँ।"

माँ कहा करती थीं, "दोष तो मनुष्य करेगा ही! उसे देखना नहीं चाहिए। इससे अपना खुद का नुकसान होता है। दोष देखते-देखते अन्त में केवल दोष ही देखने का स्वभाव बन जाता है।" एक बार उन्होंने योगेन-माँ से कहा था, "योगेन, दोष किसी के भी मत देखना, नहीं तो आखिरकार दृष्टि ही दूषित हो जायेगी।"

जयरामबाटी में रात को माँ सोयी हुई थीं। मैं प्रतिदिन के समान उनके पाँव दबाने के बाद उनके पाँवों पर हाथ फेर रही थी। बातचीत के दौरान माँ बताने लगीं कि उन्होंने दीक्षा देना कैसे आरम्भ किया, "देखो बेटी, ठाकुर के देहत्याग के बाद मैं वृन्दावन में थी। सभी लोग उनके शोक में कातर थे। एक दिन रात को ठाकुर बोले, 'तुम लोग इतना रो क्यों रही हो? मैं भला गया ही कहाँ हूँ – यह तो बस मानो एक कमरे से दूसरे कमरे में ही तो जाना है!" एक दिन ठाकुर ने योगीन (स्वामी योगानन्द) को दीक्षा देने की बात कही। सुनकर पहले तो मुझे थोड़ा भय-सा लगा, लज्जा भी आने लगी। पहले दिन देखकर मैंने सोचा, "यह भला कैसी बात! लोग भी क्या सोचेंगे? सभी कहेंगे – इसी बीच माँ शिष्य भी बनाने लगीं! एक-एक कर तीन दिन ठाकुर ने ठीक वही बात कही, "मैंने उसे मंत्रदीक्षा नही दी है, तुम दे दो।" यह भी बता दिया कि

कौन-सा मंत्र देना होगा। मैं तब तक योगेन के साथ बातचीत नहीं करती थी। ठाकुर ने योगेन-माँ के माध्यम से उससे बातें करने को कहा। मैंने तब योगेन-माँ से यह बात कही। उसने बालक योगेन से पूछकर यह जान लिया कि ठाकुर ने उसे मंत्र नही दिया है। ठाकुर ने योगेन को भी दर्शन देकर मुझसे मंत्र लेने को कह दिया था। उसे वह बात मुझे बताने का साहस नही हुआ था। जब मैंने देखा कि उन्होंने दोनों को ही कहा है, तब मैंने उसे मंत्र दिया। इस योगेन से ही मेरा दीक्षादान आरम्भ हुआ। योगेन ने मेरी खूब सेवा की है; वैसी अन्य कोई नही कर सकेगा। कर सकेगा तो केवल शरत् ही। मेरी झंझटें सँभालना बड़ा कठिन है, बेटी। शरत् को छोड़ कोई भी मेरा भार नही उठा सकेगा। गोलाप-माँ, योगेन-माँ के न रहने से मेरा कलकत्ते में रहना नहीं हो सकता।"

माँ के जयरामबाटी निवास के दौरान राँची से एक भक्त ने जाकर उनसे कहा, "आपको कुछ दिनों के लिए ले जाने को आया हूँ। मकान का किराया आदि सब तय हो गया है।" माँ ने पूछा, "शरत् को पता है?" भक्त ने कहा, "नहीं।" माँ बोलीं, "तो फिर मेरा जाना नहीं हो सकेगा। शरत् आकर लौट गया है। पहले कलकत्ते जाऊँगी। वह यदि कहे तो देखा जायेगा।" भक्त ने कहा, "माँ, हमने सारी व्यवस्था कर रखी है, उसका क्या होगा?" माँ बोलीं, "तुम लोगों ने पहले से पूछे बिना व्यवस्था ही क्यों की?"

भक्त चले गये। बाद में माँ कहने लगीं, "देखो बेटी, ये लोग सोचते हैं कि मुझे ले जाना बड़ा सहज है। ये लोग केवल तमाशा करना ही जानते हैं। एक बार और ढाका में उन लोगों ने अखबार में छपवा दिया था कि मैं वहाँ जाऊँगी। जबकि मुझे तो कुछ पता ही नहीं था। दो-चार दिन सभी कर सकते हैं। मेरा भार लेना क्या सहज है? शरत् को छोड़ दूसरा कोई भार ले सके, ऐसा तो मैं नहीं देखती। वह मेरा बासुकी है, सैकड़ों फन फैलाकर कितने प्रकार के कार्य कर रहा है, जहाँ भी पानी गिरता है, वहीं छाता लेकर खड़ा रहता है।"

एक दिन एक भक्त-महिला द्वारा माँ के समक्ष अपने मित्र के साथ मनोमालिन्य की बात बताने पर माँ ने कहा था, "देखो बेटी, मनुष्य से प्रेम करने पर दु:ख-कष्ट उठाना पड़ता है। जो भगवान से प्रेम कर पाता है वही धन्य होता है, उसे कोई दु:ख-कष्ट नहीं रह जाता।"

एक अन्य दिन एक भक्त-महिला ने जब माँ से ठाकुर-पूजा सीखने की इच्छा व्यक्त की, तो इस पर माँ ने कहा, "देखो, तुम लोग संसार में रहती हो, इतना कर नहीं सकोगी। उनका जो नाम मिला है, उसी को जपो न। थोड़ा-सा कर पाने से सब हो जायेगा।"

एक बार माँ ने मुझे एक रेशमी कपड़ा दिया। किसी ने इस पर आपत्ति उठाते हुए कहा, "केवल उसी को क्यों दे रही हो, माँ? और भी तो अनेक लोग हैं न!" माँ ने उत्तर दिया, "मैं उसे नहीं दूँगी, तो भला कौन देगा? बोलो तो, उसके और है ही कौन?"

राधू की बीमारी के कारण माँ बोसपाड़ा के निवेदिता स्कूल के किराये के बोर्डिंग-भवन में ठहरी हैं। मैं उनकी सेवा के लिए वहाँ हूँ। एक दिन माँ ने मुझे ठाकुर को भोग देने को कहा। मैं भोग देने का कोई मंत्र आदि नहीं जानती थी; अत: मैंने माँ से कहा, "माँ, मैं तो जानती नहीं कि ठाकुर को कैसे भोग दिया जाता है।" इस पर माँ बोलीं, "देखो बेटी, ठाकुर को अपना समझकर कहना, 'आओ, बैठो, लो, खाओ।' और सोचना कि वे आये हैं, बैठे हैं और खा रहे हैं। अपने आदमी के लिए क्या मंत्र-तंत्र की जरूरत होती है? वह सब तो जैसे मेहमान आने पर उनका आदर-यत्न करना पड़ता है, वैसे ही है। अपने आदमी के लिए वह सब नहीं लगता। उन्हें जिस भाव से दोगी, वे उसी भाव से ग्रहण करेंगे।" इसके बाद उन्होंने भोग देने का एक मंत्र मुझे सिखा दिया।

एक बार माँ ने एक भक्त से कहा था, "देखो बेटा, तुम्हारे ऊपर संकट नहीं आयेगा, ऐसी बात नहीं, वह तो आयेगा ही। परन्तु वह रहेगा नहीं; देखोगे कि पाँवों के नीचे से जल के समान वह चला जायेगा।"

एक भक्त ने माँ से पूछा था, "इतना तो जप-तप कियां, पर कुछ भी तो नहीं हुआ।" उत्तर में माँ ने कहा, "यह क्या शाक-सब्जी है, जो कीमत देकर खरीद लोगे?"

जयरामबाटी में माँ के सम्बन्धी विभिन्न विषयों में माँ को तंग किया करते थे। एक दिन नाराज होकर माँ ने कहा था, "देखो, तुम लोग मुझे ज्यादा परेशान मत करो। इसके भीतर जो हैं, वे यदि एक बार भी फुफकारें तो ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर किसी में भी क्षमता नहीं है कि तुम लोगों की रक्षा कर सकें।"

१९१९ ई. की बात है। माँ तब कोयलपाड़ा में थीं। दशहरे के दिन कुछ भक्त माँ के चरणों में कमल के फूल चढ़ाकर पूजा करने के बाद चले गये। बाद में माँ ने मुझसे पूछा, "आज क्या बात है कि लड़के पाँवों में फूल दे गये?" मैंने कहा, "आज दशहरा है, इसीलिए।" माँ थोड़ा-सा हँसकर बोलीं, "ओ माँ, मैं मनसा हूँ क्या?" बाद में ठाकुर की ओर हाथ जोड़कर उन्होंने कहा था, "वे ही मनसा, वे ही गंगा, वे ही सब हैं।"

वायुरोग से राधू पागल-जैसी होकर कोयलपाड़ा में निवास कर रही थी। कई बार माँ स्वयं ही उसे खिलाया करती थीं। वह खाने का कौर मुख में लेकर प्राय: ही माँ के शरीर पर फेंक देती। एक दिन माँ ने नाराज होकर मुझसे कहा था, "देखो बेटी, इस शरीर (अपने शरीर की ओर इंगित करते हुए) को

देव-शरीर समझना। इस पर और कितना अत्याचार सहन हो सकेगा? ठाकुर ने कभी मुझे फूल से भी चोट नहीं पहुँचाया। कभी 'तुम' छोड़कर 'तू' नहीं कहा। एक बार उन्होंने मुझे लक्ष्मी समझकर 'तू' कह दिया, उसके बाद वे कितने लज्जित हुए! उन्होने जीभ काटकर कहा, 'ओ माँ, तुम हो? बुरा मत मानना, मैंने लक्ष्मी समझकर 'तू' कह दिया है।' इन लोगों ने मुझे जला डाला है, बेटी। इस बार ठाकुर किसी प्रकार राधू को ठीक कर दें, बस और नहीं। देखो बेटी, मेरे रहते इनमें से कोई भी मुझे जान नहीं सकेगा, बाद में सब समझेंगे।''

'उद्‌बोधन' भवन में माँ की अन्तिम बीमारी के समय एक दिन एक साधु माँ को देखने आये थे। माँ लेटी हुई थीं। साधु माँ के चरणों पर हाथ फेरने लगे। उस समय माँ का सिर वस्त्र से नहीं ढँका था। साधु के चले जाने पर माँ ने मुझसे कहा, "मेरे सिर पर वस्त्र नहीं था, उसे ढँका नहीं क्यों? मैं क्या मर गयी हूँ? अभी से ऐसा कर रही हो!''

उस समय माँ को खूब अरुचि थी, वे कुछ भी खा नहीं पाती थीं। थोड़ा-सा भात लेती थीं। एक दिन भोजन के समय डॉ. कांजीलाल वहाँ आ पहुँचे। उन्हें लगा कि माँ के भात की मात्रा थोड़ी अधिक हो गयी है, ऐसा समझकर माँ के सामने ही मुझसे कहा, "तुमसे माँ की सेवा न हो सकेगी। मैं माँ की सेवा के लिए कल दो नर्स लाऊँगा। तुम्हें अब करना नहीं होगा।'' माँ ने डॉक्टर बाबू की बातें सुनकर बाद में कहा, "हाँ, वह क्या समझता है कि मैं उन बूट पहनी महिलाओं की सेवा ग्रहण करूँगी? मुझसे यह नहीं हो सकेगा। तुम जैसे मेरा कामकाज करती हो, वैसे ही करना। कांजीलाल क्यों मेरे भात खाने को लेकर इतना झंझट कर रहा है? मैं क्या भात खा सकती हूँ? यह बात तो वह जानता नहीं!''

इसके कुछ दिनों के बाद ही माँ का भात खाना बिल्कुल ही बन्द हो गया। एक दिन माँ ने कहा, "देखो, उस दिन कांजीलाल मेरे भात खाने पर नाराज हो गया था। उसी के बाद से मेरा भात खाना बिल्कुल ही चला गया।"

उन दिनों माँ का स्वभाव बिल्कुल पाँच वर्ष की बालिका के समान हो गया था। एक दिन रात के बारह बजे भोजन कराने जाने पर उन्होंने जिद पकड़ी, "मैं अब नहीं खाऊँगी। तेरी तो बस एक ही बात है, 'माँ, खाओ और बगल में काठी (थर्मामीटर) लगाओ'।'' माँ खाना नहीं चाहती हैं, यह देखकर मै बोली, "माँ, तो क्या महाराज को बुलाऊँ?'' कभी-कभी वे (शरत्) महाराज का नाम लेने पर खा लेती थीं। परन्तु इस बार वे खाने को बिल्कुल भी तैयार नहीं हुईं। बोलीं, "बुलाओ शरत् को। मैं तेरे हाथ से नहीं खाऊँगी।'' महाराज सुनते ही माँ के पास चले आये। महाराज को बैठाकर माँ बोलीं, "बेटा, मेरे शरीर पर थोड़ा हाथ फेर दो तो।'' फिर वे उनके दोनों हाथ पकड़कर बोलीं, "देखो न बेटा, ये लोग मुझे कितना तंग करती हैं। केवल 'खाओ, खाओ' की रट लगा रखी है और केवल काठी लगाना जानती हैं। तुम इसे कह दो कि मुझे तंग न करे।'' महाराज ने कहा, "नहीं माँ, ये लोग अब आपको तंग नहीं करेंगी।'' इस प्रकार दिलासा देने के बाद महाराज ने पूछा, "माँ, अब थोड़ा-सा खायेंगी?'' माँ ने कहा, "लाओ।'' महाराज ने मुझे खाना ले आने को कहा। माँ यह बात सुनते ही बोल उठीं, "नहीं, तुम्हीं मुझे खिला दो, मैं उसके हाथ से नहीं खाऊँगी।'' मैंने फीडिंग कप में दूध ढालकर महाराज के हाथ में दिया। उन्होंने किसी प्रकार थोड़ा पिलाने के बाद कहा, "माँ, जरा सुस्ताकर पीजिए।'' सुनते ही माँ बोलीं, "देखो तो, कैसी सुन्दर बात है – 'माँ, जरा सुस्ताकर पीजिए'। ऐसी बात क्या ये लोग नहीं जानतीं? नाहक इतनी रात गये बच्चे को कष्ट दिया। जाओ बेटा, सो जाओ।'' इतना कहकर माँ ने शरत् महाराज के शरीर पर हाथ फेर दिया। महाराज ने मच्छरदानी लगाकर कहा, "माँ, अब चलूँ।'' माँ बोलीं, "हाँ बेटा! बेचारे को नाहक कष्ट हुआ!''

देहत्याग के कुछ दिन पूर्व से ही माँ राधू की कोई खोज-खबर नहीं लेती थीं। एक दिन वे राधू से बोलीं, "देख, तू जयरामबाटी चली जा। यहाँ और मत रह।'' मुझसे बोलीं, "शरत् से इन लोगों को जयरामबाटी भेजने को कह दे।'' मैंने पूछा, "आप क्यों इन्हें भेज देने को कहती हैं? राधू के बिना आप रह सकेंगी क्या?'' माँ बोलीं, "खूब रह सकूँगी, मन को उठा लिया है।'' माँ की यह बात मैंने जाकर योगेन-माँ तथा शरत् महाराज को बतायी। तब योगेन-माँ ने माताजी के पास जाकर पूछा, "क्यों माँ, उन्हें भेज देने को कहती हो?'' उत्तर में माँ बोलीं, "योगेन, इसके बाद उन्हें वहीं तो रहना होगा। हरि जा रहा है, उसी के साथ भेज दो। मन को उठा लिया है, अब और नहीं चाहिए।'' योगेन-माँ ने कहा, "ऐसा मत कहो, माँ। तुम यदि मन उठा लोगी, तो हम कैसे रहेंगी?'' माँ बोलीं, "योगेन, माया को काट चुकी हूँ, अब और नहीं।'' योगेन-माँ ने कुछ न कहकर शरत् महाराज को सब कुछ बताया। वे बोले, "तो अब माँ को रखा नहीं जा सकेगा। जब उन्होने राधू के ऊपर से मन को हटा लिया है, तो फिर अब आशा नहीं है।'' मैं भी वहीं खड़ी थी। महाराज ने मुझसे कहा, "देखो, तुम लोग काफी काल से माँ के पास हो, प्रयास करके देखो कि यदि माँ का मन थोड़ा भी राधू पर लौटकर आ जाय।'' परन्तु हमारे हजारों प्रयासों से भी कुछ नहीं हुआ। एक दिन माँ ने काफी दृढ़तापूर्वक कहा, "जिस मन को उठा लिया है, समझ लो कि अब वह नीचे नहीं उतरेगा।''

देहत्याग के दो-तीन दिन पूर्व माँ ने शरत् महाराज को बुलाकर कहा, "शरत्, मैं चलती हूँ। योगेन, गोलाप आदि हैं, इन्हें देखना।''

❖ (क्रमशः) ❖

लोकनायक लोकमान्य तिलक

स्वामी सत्यरूपानन्द

१८५७ के प्रथम स्वातत्र्य युद्ध में सामयिक पराजय के पश्चात् घायल भारत ने प्रथम अँगड़ाई उसी सदी के अन्तिम दशक में ली थी। वैसे स्वातत्र्य युद्ध के लगभग १०० वर्ष पूर्व बौद्धिक तथा सास्कृतिक जागृति का शख तो राजा राममोहन राय ने ही फूँक दिया था, किन्तु सुप्त भारत की नींद टूटी थी स्वामी विवेकानन्द की सिंह-गर्जना से। १८५८ से १९०० ई. तक का समय बौद्धिक, सास्कृतिक, धार्मिक तथा सामाजिक जागृति का समय कहा जाता है। इस काल-खड में भारत के शिक्षित वर्ग में अपनी अस्मिता की चेतना तो जागी थी, किन्तु अभी पूर्ण आत्मविश्वास तथा अपनी स्वय की शक्ति पर आस्था उत्पन्न नहीं हो पाई थी। इसीलिए १८८५ में बनी नेशनल कांग्रेस याचना और प्रार्थना के ही स्वरों में अपने अधिकारों की माँग ब्रिटिश सरकार के सामने रखती थी।

१८८९ में मुम्बई में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हुआ। पूना से तिलक जी भी उस अधिवेशन में प्रतिनिधि होकर आये। यहीं वे कांग्रेस में प्रविष्ट हुए। वैसे तिलक जी का राजनैतिक जीवन तो १८८१ में 'केसरी' तथा 'मराठा' पत्रों के माध्यम से प्रारम्भ हो गया था। अब कांग्रेस में प्रविष्ट होकर उन्होंने अपनी सारी शक्ति जनजागरण व राजनैतिक आन्दोलन में लगा दी और तत्कालीन राजनीति को याचना की हीनवृत्ति से निकालकर पूर्ण स्वाधीनता के रणक्षेत्र में लाकर खड़ा कर दिया। उन्होंने वज्र दृढ़ स्वर में घोषणा की, ''स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है और हम उसे लेकर रहेंगे।''

तिलक जी की मान्यता थी कि कुछ पढ़े-लिखे लोगों की प्रार्थना और प्रस्तावों द्वारा राजनैतिक अधिकार या स्वराज्य नहीं प्राप्त किया जा सकता। वे यह मानते थे कि जनसाधारण को जागृत कर उनके पूर्ण सहयोग के द्वारा ही ब्रिटिश शासन से अपने अधिकार प्राप्त किये जा सकते हैं। उनका विश्वास था कि सदियों से सोई हुई भारत की जनता को जगाना होगा। उन्हें उनकी महान् सस्कृति, उदार धर्म व उच्च आध्यात्मिकता का पुनर्स्मरण कराकर स्वराज्य-प्राप्ति के लिए रणांगण में लाकर खड़ा करना होगा। और लोकमान्य तिलक अपने इस लक्ष्य में सफल हुए। गणपति उत्सव और शिवाजी उत्सव के द्वारा उन्होंने लोगों को झकझोर कर जगाया तथा बड़ी मात्रा में जनसाधारण को सक्रिय किया। इन उत्सवों के माध्यम से उन्होंने तत्कालीन भारतीयों के मन में अपने धर्म और सस्कृति के प्रति श्रद्धा उत्पन्न की। उनके मन में गौरव, श्रद्धा और सम्मान की भावनाएँ जगाईं। तिलक जी का यह दृढ़ विश्वास था कि कोई भी राष्ट्र अपने अतीत के मूल से कटकर कभी भी जीवित नहीं रह सकता। अपने मूल से जीवन-रस लेकर ही राष्ट्र सुखी और सम्पन्न हो सकता है। भारत का मूल उसकी अपनी आध्यात्मिक सस्कृति तथा उदार धार्मिक दृष्टि है।

लोकमान्य तिलक मूलतः एक धार्मिक तथा आध्यात्मिक पुरुष थे। तत्कालीन परिस्थितियों के कारण उन्हें राजनैतिक आन्दोलन में कूदना पड़ा था, पर उसे भी उन्होंने अपने स्वधर्म के रूप में ही देखा था तथा यही सोचकर आजीवन निष्ठापूर्वक पालन किया। तिलक जी की भारत तथा भारतवर्ष के द्वारा विश्व को सबसे बड़ी देन है उनका - कर्मयोगशास्त्र। गीता की उनके द्वारा की गई नयी व्याख्या। गीता भारतीय आध्यात्मिक साहित्य की चूड़ामणि है। आचार्य शकर से आज तक अनेक विद्वानों और मनीषियों ने उस पर टीकाएँ लिखी हैं, उसकी व्याख्या की है। तिलक जी के पूर्व तक गीता निवृत्तिप्रधान ज्ञान का या भावनाप्रधान महान् ग्रन्थ माना जाता था। किन्तु तिलक जी ने अपने महान् ग्रन्थ 'कर्मयोगशास्त्र या गीतारहस्य' के द्वारा गीता की एक अभिनव व्याख्या प्रस्तुत की और यह दिखाया कि मूलतः गीता निवृत्तिप्रधान या भक्तिप्रधान नहीं है। गीता का मौलिक सन्देश है सतत कर्म - निष्काम कर्म। तिलक जी का मत है कि गीता एक प्रवृत्तिमूलक ग्रन्थ है, जिसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि व्यक्ति को सदैव अपने कर्तव्य कर्मों को निष्ठापूर्वक निष्काम भाव से आजीवन करते रहना चाहिए। इसी निष्काम कर्म के द्वारा उसे मोक्ष की प्राप्ति हो जायेगी। मोक्ष प्राप्त करने के लिए उसे ससार त्यागकर कहीं जाने की आवश्यकता नहीं है। अपने कर्तव्य कर्मों का पालन करते हुए ही व्यक्ति मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

सचमुच ही निवृत्ति के नाम पर आलस्य, अकर्मण्यता और घोर तमोगुण में डूबे तत्कालीन भारतीय समाज को तिलक जी ने कर्मयोगशास्त्र का अमृत पिलाकर प्रचण्ड प्रवृत्ति तथा दृढ़ कर्मठता के राजमार्ग पर लाकर खड़ा कर दिया। तिलक जी वस्तुतः कर्मण्यता एव प्रवृत्तिमार्ग के युगपुरुष थे। लोकमान्य तिलक का जीवन उनके सिद्धान्तों का मूर्त प्रतीक था। उनका व्यक्तिगत जीवन सर्वथा निष्कलुष, पवित्र एवं पूर्णतः निस्वार्थ था। स्वार्थत्याग और परहित के लिए सतत कर्म उनके जीवन का मूलमत्र था। राष्ट्रीय सकट की घड़ी में तिलक जी का जीवन उस दीपस्तम्भ के समान है, जो सैकड़ों भूले-भटके लोगों को जीवन की उचित दिशा दिखाकर उन्हें गन्तव्य पर पहुँचा सकता है।

जीने की कला (१)

स्वामी जगदात्मानन्द

(लेखक रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी हैं। उन्होंने युवकों के लिए जीवन-निर्माण में मार्गदर्शन करने हेतु कन्नड़ भाषा में एक पुस्तक लिखी, जो अतीव लोकप्रिय हुई। हाल ही में दो भागों में उसका अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है। इसकी उपयोगिता को देखकर हम इसका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं। पिछले अंक में उक्त पुस्तक के प्रथम भाग का अनुवाद पूरा हुआ और अब प्रस्तुत है उसका दूसरा भाग। इसका अनुवाद किया है श्री रामकुमार गौड़ ने जो सम्प्रति आकाशवाणी के वाराणसी केन्द्र में सेवारत है। – सं.)

छोड़ो चिन्ता-दुश्चिन्ता को

"चिन्ता, क्रोध, भय आदि आपके रक्तसंचारी, पाचन और स्नायु-तंत्र पर प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं। ये नकारात्मक भावनाएँ आपके स्वास्थ्य के लिए हानिप्रद हैं। मैंने किसी व्यक्ति को कठिन परिश्रम के फलस्वरूप मरते हुए नहीं देखा, पर मैंने अनेक लोगों को मानसिक तनाव व चिन्ताओं के दुष्प्रभाव से मरते हुए देखा है।" — *डॉ. चार्ल्स मेयो*

"चिता मुर्दे को जलाती है; परन्तु चिन्ताएँ व्यक्ति को जिन्दा ही जला डालती है। — *एक भारतीय कहावत*

"क्रोध से भ्रम उत्पन्न होता है। भ्रम से स्मृतिलोप, स्मृतिलोप से बुद्धिनाश और बुद्धिनाश हो जाने के फलस्वरूप व्यक्ति का सर्वनाश हो जाता है।" — *भगवद्गीता*

"जो व्यापारी चिन्ताओं से निपटना नहीं जानते, वे अल्पायु में ही काल-कवलित हो जाते हैं।" — *डॉ. अलेक्सिस कैरेल*

"पेट का अल्सर (व्रण) इस बात पर निर्भर नहीं करता कि आप क्या खा रहे हैं, बल्कि इस बात पर कि आपको कौन-सी चिन्ता खा रही है।" — *डॉ. जोसेफ एफ. मॉन्टेग*

"बीमारी, विफलता या कष्ट से भयभीत होना मानो अचेतन मन में बीज बोना है, जिनसे शरीर तथा मन में रोगी मनोभावों, विक्षुब्ध विचारों, भ्रामक मनोदशाओं और गलत कृत्यों की फसल तैयार होगी।

"अचेतन मन से किसी भी गलत संस्कार को दूर करने के लिए उसके स्थान पर उसके ठीक विपरीत सही संस्कार उत्पन्न करना होगा। केवल मानसिक शक्ति, प्रतिरोध या नकारने से गलत संस्कारों को दूर नहीं किया जा सकता है; सही संस्कार उत्पन्न कीजिए और गलत संस्कार अपने आप ही चले जायेंगे।" — *क्रिश्चियन डी. लारसन*

"दुखी होने का रहस्य यह है कि आपके पास प्रसन्न या दुखी होने की चिन्ता के लिए खाली समय है।" – *बर्नार्ड शॉ*

"बुरी-से-बुरी अवस्था को स्वीकार कर लेने से ही मन की सच्ची शान्ति प्राप्त होती है।" — *लिन युतांग*

"चिकित्सक सबसे बड़ी गलती यह करते हैं कि वे मन के इलाज का प्रयास किये बिना ही शरीर की चिकित्सा का प्रयास करते हैं। मन तथा शरीर सहबद्ध है और उनका पृथक्-पृथक् उपचार नही किया जाना चाहिये।" — *प्लेटो*

चिन्तामुक्त रहो

विज्ञान और तीव्र तकनीकी विकास के इस युग में हमारा जीवन जटिल हो गया है और तनाव हमारा अभिन्न मित्र बन चुका है। हम राजनीतिक विवादों के दलदल में फँस गये हैं। जीविका-निर्वाह तथा आत्मरक्षा हेतु हमें सर्वत्र तीव्र प्रतिस्पर्धा करनी पड़ती है। छिपे या खुले तौर पर विभिन्न धार्मिक वर्गों, जातियों और तबकों के बीच संघर्ष और हिंसात्मक भिड़न्तों ने हमारा सन्तुलन बिगाड़ डाला है। इन परिस्थितियों में आन्तरिक शान्ति तथा मानसिक सन्तुलन को बनाये रखने की पद्धति का ज्ञान न होने पर चिन्ता और तनाव हमें निस्सन्देह अभिभूत कर डालेंगे। मानसिक विक्षोभों से व्यक्ति के शारीरिक स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। समूचे विश्व के स्नायुरोग-चिकित्सक इस बात को प्रमाणित कर चुके हैं। चिन्ता, तनाव तथा भय को क्रमश: एकत्र होने तथा अन्तत: भयावह रोगों में परिणत हो जाने के पूर्व, उन्हें उनकी प्रारम्भिक अवस्था में ही उखाड़ डालना अच्छा है। जब ऐसी कोई बीमारी अबाध रूप से बढ़ने लगती है, तो हम असहाय होकर चिकित्सक के पास दौड़ने लगते हैं। यदि हम कुछ मूल्यों और सिद्धान्तों के अनुसार अपना जीवन गठन करना सीख लें, तो हम चिन्ता और तनाव के इन गम्भीर परिणामों से बच सकते हैं। घर में आग लग जाने के बाद कुआँ खोदने का प्रयास कितनी मूर्खता का काम है। अतएव चिन्ता के प्रसार को रोकने के लिये हमें आज ही उपयुक्त कदम उठाना होगा।

चिन्ता का फन्दा

एक बार मेरे एक मित्र ने एक विचित्र बीमारी के बारे में बताया, जिससे वह ग्रस्त हुआ था। उस समय सहसा उसका सिर चकराने लगा था और उसे कई बार उल्टी हुई। बिस्तर से उठने के प्रयास मे उसे कष्ट महसूस होने लगा। औषधियों से कोई लाभ नहीं हुआ। विचित्र बात यह है कि वह बीमारी, जिससे उसके चिकित्सक लोग इतने भ्रमित हो गये थे, जितनी जल्दी शुरू हुई, कुछ समय बाद उतनी शीघ्रता से ही लुप्त हो गयी। बाद में पता चला कि इसका कारण अतिशय दुश्चिन्ता ही थी। वह बीमारी तब प्रकट हुई, जब उसे पता चला कि उसका मित्र गम्भीर रूप से दुर्घटनाग्रस्त होकर अस्पताल में भर्ती है। फिर उसने ज्योंही सुना कि उसका मित्र अब खतरे से बिल्कुल बाहर है, तो उसकी वह विचित्र व्याधि लुप्त हो

गयी। इस घटना के पीछे क्या रहस्य था? उसकी चिन्ता इस बात से शुरू हुई कि उसके मित्र ने उसकी गारंटी पर बैंक से एक बड़ा कर्ज ले रखा था। वह इस बात को लेकर चिन्तित था कि यदि मित्र का देहान्त हो गया, तो वह उस कर्ज को कैसे चुकायेगा। परन्तु उसका मित्र ज्योंही स्वस्थ हुआ, त्योंही वह उस चिन्ता से मुक्त हो गया और उसके लक्षण चले गये।

वाल्मीकि मुनि कहते हैं – "एक विषधर सर्प एक बालक को डँसकर मार डालता है, पर चिन्ता मनुष्य को पकड़कर उसका विनाश कर डालती है। दुखी, चिन्तित व हताश व्यक्ति चाहे जो भी करे, अन्ततः स्वयं को बरबाद कर लेता है।"

तनाव का बोझ

श्री अनन्त राव एक बड़ी कम्पनी के उप-प्रबन्धक थे। वे एक दक्ष तथा जिम्मेदार अधिकारी के रूप में परिचित थे और अन्ततः उन्हें महा-प्रबन्धक बना दिया गया। इस कार्य में उनकी सहायता हेतु अनेक लोग थे; तथापि प्रबन्धक बनने के पन्द्रह दिनों के भीतर ही वे दिल की तेज धड़कन और भय से पीड़ित होने लगे। रात में उन्हें अच्छी नींद भी नहीं आ पाती थी। चिकित्सकों ने बताया कि उनका कार्यभार अत्यधिक बढ़ गया है। महत्त्वपूर्ण निर्णय लेने हों या असहयोगी कर्मचारियों का सामना करना, वे सर्वदा स्वयं को थका हुआ तथा परिस्थितियों से तालमेल बिठा पाने में असमर्थ अनुभव करने लगे। वे स्वीकार ही नहीं कर पाते थे कि उनकी बीमारी के मनोवैज्ञानिक लक्षण हैं। परन्तु उनके चिकित्सकों का निश्चित मत था कि मानसिक तनाव ही इसका एकमात्र कारण था। चिकित्सकों के परामर्श पर वे छुट्टी लेकर चले गये। उनकी अनुपस्थिति में एक अन्य अधिकारी ने दक्षतापूर्वक उनका कार्य सम्पन्न किया। उसने सभी कार्यों को सुचारु रूप से सम्पन्न किया तथा आयी हुई समस्याओं को निपटाया। बाद में छुट्टी बिताकर लौट आने पर श्री राव ने अपने कार्य के प्रबन्धन में कोई कठिनाई महसूस नहीं की और वे स्वस्थ हो गये।

डॉ. अलेक्सिस कैरेल ने ठीक ही कहा है, "जो व्यवसायी चिन्ताओं से निपटना नहीं जानते, वे अल्पायु में ही काल-कवलित हो जाते हैं।"

मौन-व्यथा

सुजाता एक उच्च शिक्षित तथा सदाचारी युवती थी। वह अच्छे खानदान की थी। उसके पति सुयोग्य और अच्छे पद पर कार्यरत थे। विवाह के शीघ्र बाद ही उसे पता चला कि उसके पति शराबी हैं। उसे काफी दुःख हुआ, परन्तु वह हताश नहीं हुई। उसने अपने पति को इस आदत से मुक्त कराने हेतु साहस तथा धैर्यपूर्वक प्रयत्न किया। अपने इस प्रयास में वह दो वर्षों तक अध्यवसाय के साथ जुटी रही, पर पड़ोसियों के घृणित व्यंग-वचनों को सुन पाना उसके लिये असह्य हो गया। जब उसका पति सुरापन करके घर आता और उसके साथ बुरे बर्ताव करता, तो वह विषाद से टूट जाती। निराशा के घने बादल क्रमशः उसके मन तथा जीवन को तमसाच्छन्न करने लगे। उसका सुखद भविष्य का स्वप्न चकनाचूर हो गया था। वह शरीर के दर्द, अनिद्रा तथा थकावट से पीड़ित हो गयी। ये सभी चिन्ता के दुखद उपहार हैं। संकट से मुक्ति और मानसिक शान्ति कायम रखने के लिये धैर्य तथा साहस रखने की आवश्यकता है। तो फिर उपाय क्या है? ऐसे उत्कृष्ट गुण हम कहाँ से प्राप्त करें?

तनाव से संकट

रमेश एक युवा उत्साही कर्मचारी था। वह कपड़े की एक दुकान में प्रातः से सायंकाल तक निष्ठापूर्वक कार्य करता था। एक दिन गलत सूचना पाकर या सन्देह के आधार पर उसका मालिक क्रोध में उस पर चिल्ला उठा, "वह मूर्खतापूर्ण कार्य तुमने ही किया!" वस्तुतः रमेश की कोई गलती नहीं थी। वह मालिक को समझा-बुझाकर गलफहमी दूर करना चाहता था, पर बीच में ही उसका मालिक गरज पड़ा, "चुप रहो। बातें मत बनाओ। मैं सब कुछ जानता हूँ।" ग्राहकों तथा अपने सहकर्मियों के सामने ही रमेश का यह अपमान किया गया था। किसी तरह तो वह अपमान का यह घूँट पी गया। पर वह अत्यधिक विक्षुब्ध हो गया था। उसने किसी तरह ग्राहकों का हिसाब-किताब पूरा कर लिया, परन्तु बाद में चक्कर आ जाने से उसके आँखों के सामने अन्धकार छा गया। वह बैठ गया, अन्यथा वह जमीन पर गिर पड़ा होता। उसने थोड़ा-सा जल पीया और किसी तरह स्वस्थ महसूस करने लगा। यह मानसिक आघात का मामला था।

विचार तथा भावनाएँ शरीर पर अपने चिह्न तथा संस्कार छोड़ जाती हैं। ये मानसिक वृत्तियाँ अच्छा स्वास्थ्य या बीमारियों के लक्षण प्रकट करती हैं। बुरे विचार नकारात्मक बदलाव लाते हैं। और भले विचार हितकर परिवर्तन उत्पन्न करते हैं। यह कोई कल्पित कथा या धार्मिक उपदेशकों की सामान्य रूढ़ोक्ति नहीं है, अपितु वैज्ञानिक रूप से प्रमाणित तथ्य है।

अल्सर चिन्ता का फल है

सन् १९५६ में रूसी वैज्ञानिकों ने अनेक प्रयोगों के द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि चिन्ता के परिणामस्वरूप ही पेट में अल्सर (घाव) होते हैं। निरन्तर भय, तनाव एवं चिन्ता का शरीर पर भयानक प्रभाव होता है। इन के फलस्वरूप रोग से शरीर की रक्षा करने वाली श्वेत रक्त-कणिकाओं का काफी ह्रास हो जाता है। और इसके विपरीत सकारात्मक चिन्तन, प्रसन्नता, मानसिक बल और आनन्द से श्वेत रक्त-कणिकाओं में आश्चर्यजनक रूप से वृद्धि होने लगती है। नकारात्मक भावनाएँ हमें ठेस पहुँचाती हैं। चिन्ताएँ बढ़ जाने पर पेट के अल्सर से रक्तस्राव

आरम्भ हो सकता है। डॉक्टर अलवारिस द्वारा मेयो क्लीनिक में किये गये प्रयोगों ने यह बात सिद्ध कर दी है।

डॉ. अलवारिस ने किसी-न-किसी प्रकार उदररोग से पीड़ित पन्द्रह हजार रोगियों का निरीक्षण किया। उन्होंने उनके पेटदर्द का कारण ढूँढ़ निकाला। इसमें रोचक बात यह है कि लगभग बारह हजार रोगियों की पीड़ा का मूल कारण उनके शरीर में नहीं, बल्कि उनके मन में था। रोगियों की समस्या का कारण प्रदूषित जल, वातावरण-प्रदूषण या कुछ और नहीं था। भय, चिन्ता, असुरक्षा की भावना, ईर्ष्या और बदलती परिस्थितियों के साथ सामंजस्य स्थापन में असमर्थता ही एक साथ मिलकर पेटदर्द उत्पन्न कर रहे थे।

डॉ. जॉन शिंडलर ने इस क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया। बीस वर्षों तक उन्होंने हजारों रोगियों का उपचार किया और चिन्ता, दु:ख एवं तनाव के कारण हुई उनकी शारीरिक क्षति के ऑकड़े एकत्र किये। अपने दीर्घकाल के अनुभव से उन्होंने नकारात्मक विचारों से मुक्त होने में रोगियों की मदद की। उनके मतानुसार हमारी आधी बीमारियों का मूल हमारे मन में ही विद्यमान है। डॉ. पीटर ब्लेथ ने अपनी "स्ट्रेस डिजीज : द ग्रोइंग प्लेग" (तनाव-सम्बन्धी रोग : बढ़ती महामारी) नामक पुस्तक में माना है कि कुछ निम्नलिखित बीमारियाँ मनो-दैहिक गड़बड़ियों के कारण होती हैं – उच्च रक्तचाप, दिल का दौरा, मधुमेह, दमा, गठिया-वातरोग, आधासीसी, मस्तिष्क में रक्त-अवरोध, एलर्जी, भूख न लगना, घेंघा, त्वचा की बीमारियाँ आदि। हममें से अधिकांश लोग नकारात्मक विचारों और भावनाओं के हानिकारक प्रभावों को जानते तक नहीं हैं। सुखी, उपयोगी और सार्थक जीवन जीने के लिये हमें चिन्ताओं तथा भयों से छुटकारा पा लेना होगा।

मन और देह दोनों का ही ध्यान रखो

कल्पना कीजिए कि एक रोगी चिकित्सक के पास जाकर अपनी बीमारी का वर्णन करता है। चिकित्सक यदि महसूस भी करे कि उस रोगी की समस्याएँ दैहिक न होकर मनोवैज्ञानिक हैं, तथापि वह इस बात को स्पष्ट रूप से नहीं कह सकता। चिकित्सक द्वारा चिन्ता, भय एवं द्वेष को घटाने तथा विश्राम करने की सलाह को कोई रोगी सहज ही स्वीकार नहीं करेगा। रोगी की सामान्य प्रतिक्रिया होगी – "यह चिकित्सक मुझे औषधि के बजाय केवल परामर्श दे रहा है। इसकी भला किसे जरूरत है?" वह रोगी अन्य चिकित्सक के पास जा सकता है। चिकित्सकों को अपने रोगियों के दैहिक और मानसिक दोनों ही प्रकार के स्वास्थ्य के प्रति सजग रहना है। स्नेहपूर्वक देखरेख के साथ रोगी का इलाज करने पर चिकित्सको की सहायता बेहतर प्रभावी होगी। बहुत पहले ही प्लेटो ने सुझाव दिया था कि चिकित्सकों को अपने रोगियों के दैहिक तथा मानसिक – दोनों ही आयामों की ओर ध्यान देना चाहिए।

चिकित्सक को रोगी की सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि, उसके विश्वास तथा बाल्यकालीन अनुभव आदि कुछ चीजों का ज्ञान आवश्यक है। इनका मूल्यांकन करने के बाद चिकित्सक अपने रोगी से उन नकारात्मक भावनाओं के हानिकारक प्रभावों को स्पष्ट रूप से समझा दे, जिनसे रोगी का मन और शरीर अचेतन रूप से आक्रान्त हो सकता है। साथ-ही-साथ चिकित्सक को सकारात्मक भावनाओं की सहायता से नकारात्मक भावनाओं को दूर करने का उपाय भी बता देना चहिए। यह पूर्ण उपचार है, जिसे मनोचिकित्सा के नाम से जाना जाता है, पर इसमें समय लगता है। इस प्रकार एक रोगी के उपचार में लगभग बीस घण्टों की जरूरत पड़ती है। अमेरिका जैसे विकसित देशों में भी, जहाँ एक चिकित्सक एक दिन में औसतन २३ रोगियों का इलाज करता है, ऐसी चिकित्सा सबको सुलभ नहीं है, क्योंकि इसमें समय और समर्पण की जरूरत होती है।

मन में उद्भव

भय, क्रोध व चिन्ताएँ अनेक रोगों की प्रत्यक्ष कारण होती हैं। रोगों की निम्न सूची उनकी प्रतिशत मात्रा दर्शाती है –

रोग	प्रतिशत
१. गर्दन का दर्द	७५%
२. गले की सूजन	९०%
३. पेप्टिक अल्सर	५०%
४. पित्ताशय-दर्द	५०%
५. गैस्ट्राइटिस (आंत्रशोथ)	९९%
६. चक्कर आना	८०%
७. सिरदर्द	८०%
८. कब्ज	७०%
९. थकावट और दुर्बलता	९०%

नकारात्मक भावानाएँ हानिकारक रसायनों को उत्पन्न करती हैं। अधिकांश लोग इससे अनभिज्ञ हैं और अपनी भावनाओं को नियंत्रित करने का प्रयास नहीं करते। इसीलिए वे बारम्बार पीड़ित होते रहते हैं। क्रोधित होने पर हमारी भौंहें तन जाती हैं, आँखें लाल हो जाती हैं और स्वर कटु हो जाता है। इन लक्षणों को तो हम देखते हैं, पर शरीर-विज्ञानी हमें बताते हैं कि ये दैहिक लक्षण क्यों प्रकट होते हैं। रक्तचाप बढ़ जाता है। दिल की धड़कन २२० बार प्रति मिनट तक बढ़ जाती है। हमारे फिर शान्त होने तक ये परिवर्तन बने रहते हैं। क्रोध हमारे शारीरिक स्वास्थ्य को क्षति पहुँचाता है। इससे मस्तिष्क की रक्त-केशिकाएँ फट सकती हैं या हृदय-गति रुक सकती है। ये दोनों ही अवस्थाएँ जीवन के लिए घातक सिद्ध हो सकती हैं। किसी के लिए भी लम्बे समय तक क्रोधित या

दुखी रह पाना सम्भव नहीं है। इन दोनों में से कोई भी भाव लगातार बना रहे, तो अपूरणीय क्षति हो सकती है। मानव-शरीर इन भावनाओं के हानिकारक प्रभावों को लम्बे काल तक नहीं झेल सकता। कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो क्रोध या अपमान के भाव को प्रकट नही करते, बल्कि मुस्कुराकर सह लेते हैं। तथापि ये भावनाएँ अचेतन मन को प्रभावित कर सकती हैं। ऐसे लोग अचेतन मन में ठेस तथा अपमान पहुँचानेवाले के प्रति कटुता का पोषण कर सकते हैं। क्रोध, द्वेष या अपमान-भाव की यह मौन स्वीकृति भी वैसी ही हानिकारक है।

प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन में कुछ दुख, कष्ट, तनाव आदि के अनुभव होते हैं। एक औसत व्यक्ति के पास उनका सामना करने की शक्ति होती है। उन्नत वैज्ञानिक खोजों के इस युग में अपनी समय व शक्ति बचाने के लिये हमारे पास अनेक उपाय हैं। इस तीव्र गतिमान युग में भी सैकड़ों वर्षों पूर्व के लोगों के समान धैर्य और मन:शान्ति की आशा करना कठिन है। पर अपने पूवर्जो के धैर्य का स्मरण हमारे लिये उपयोगी है। इसे स्मरण रखने से हमें अपने जीवन में अति जल्दबाजी तथा तनाव को संयमित करने में आसानी हो सकती है। मानव शरीर में अपने पर्यावरण के साथ सामंजस्य बिठाने की क्षमता विद्यमान है। उदाहरणार्थ हवाई-अड्डे के समीप रहनेवाले लोग प्रारम्भ में हवाई-जहाज के उड़ने और उतरते समय होनेवाले शोरगुल से विक्षुब्ध होते हैं, पर कुछ दिनों बाद वे उसके इतने अभ्यस्त हो जाते हैं कि इस शोर के बावजूद वे भलीभाँति सो लेते हैं, वैसे उनमें कुछ चिड़चिड़ापन रह जाता है। नगर-निवासियों को एक बस पकड़ने के लिये प्राय: घंटों प्रतीक्षा करनी पड़ती है। पंक्ति में दीर्घ काल तक खड़े-खड़े वे प्राय: अधीर हो जाते हैं। सड़क के किनारे चलनेवाले पैदलयात्री को देखकर तेज गति के कार-चालक क्रोधित हो जाते हैं। कभी-कभी सहकर्मियों के साथ गर्म वाद-विवाद, तर्क-वितर्क और बातचीत से हमारी मानसिक शान्ति छिन जाती है। पत्नी और बच्चों के साथ मतभेद प्राय: घरेलू संघर्ष में बदल जाते हैं। मानव-शरीर मशीन नहीं है। यह भावनाओं और मनोभावों से पूर्णतया मुक्त नहीं हो सकता। मगर क्रोध तथा घृणा-भाव के हानिकर प्रभावों को बोध होने के बाद मनुष्य आत्मसंयम का अभ्यास करता है। यदि वह स्वयं पर विजय प्राप्त कर ले, तो संसार के साथ अपना सामंजस्य बैठाना सीख जाता है। तब अपने आघातो को भूल जाना भी एक वरदान हो जाता है।

❖ (क्रमश:) ❖

पाठ प्रेम का पढ़ना होगा

डॉ. भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश'

इस जग में मानव-तन पाकर
पाठ प्रेम का पढ़ना होगा।
लक्ष्य-सिद्धि की साध अगर हो
पौरुष-पथ पर बढ़ना होगा।।

देखो, उस मृदुतन गुलाब को,
जो शूलों में भी मुस्काया।
और दिवाकर को देखो, जो
चीर तिमिर को ऊपर आया।
लाख विघ्न-बाधायें आयें
तुम्हें कर्म-गिरि चढ़ना होगा।।

सबको शीतल छाया देकर
पादप धूप स्वयं सहता है।
सबकी तृषा-निवारण के हित
नद में नीर सदा बहता है।
चाहो जन्म-सफलता यदि तो
आदर्शों को गढ़ना होगा।।

मानव का शृंगार सदा है,
मानवता का मान बढ़ाना।
सत्य-प्रेम-सद् धर्म-कर्म के
पुण्य-मार्ग पर आगे आना।
विश्वप्रेम के विरल पथिक को
बाल सूर्य-सम कढ़ना होगा।।

पाठकों के निवेदन

'विवेक-ज्योति' के स्वस्थ, उदात्त एवं जीवनदायी विचारों के व्यापक प्रचार-प्रसार हेतु आपसे अनुरोध है कि आप अपने कस्बे या नगर के पत्र-पत्रिकाओं के एजेण्ट तथा बुक-स्टालों के नाम तथा पूरा पता (डाकघर तथा पिनकोड सहित) सुवाच्य अक्षरों में लिखकर हमें भेज दें, ताकि हम उनसे सम्पर्क कर सकें।

— व्यवस्थापक

ईसप की नीति-कथाएँ (२१)

(ईसा के ६२० वर्ष पूर्व आविर्भूत ईसप, कहते है कि वे पूर्व के किसी देश मे जन्मे और यूनान में निवास करनेवाले एक गुलाम थे। उनके नाम पर प्रचलित अनेक कथाओं पर बौद्ध जातकों तथा पंचतंत्र आदि मे ग्रथित भारतीय कथाओं की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। इन कथाओं में व्यवहारिक जीवन के अनेक कटु या मधुर सत्यों का निदर्शन मिलता है, अत: ये आबाल-वृद्ध सभी के लिये रोचक तथा उपयोगी हैं। – सं.)

कुत्ता और खरगोश

एक पहाड़ी के किनारे एक कुत्ता एक खरगोश का पीछा कर रहा था। थोड़ी दूर पीछा करने के बाद कभी वह खरगोश की पीठ में ऐसे दाँत गड़ा देता मानो वह उसे मार ही डालेगा और कभी वह उसके ऊपर ऐसा प्रेम दिखाता था मानो वह किसी अन्य कुत्ते से खेल रहा हो। इससे त्रस्त होकर खरगोश ने उससे कहा, "भाई, मैं चाहता हूँ कि तुम मेरे साथ ईमानदारी का बर्ताव करो और अपना सही रूप दिखाओ। यदि तुम मित्र हो, तो फिर इतने जोर से क्यों काटते हो? और यदि शत्रु हो तो इतना प्रेम क्यों दिखाते हो?"

जब तक हमें मालूम नहीं कि कोई व्यक्ति विश्वसनीय है या नहीं, तब तक हम उसे मित्र कैसे बना सकते हैं?

ततैया और साँप

एक ततैया एक साँप के सिर पर बैठा उसे निरन्तर डंक मार रहा था। साँप दर्द से तिलमिला रहा था। कष्ट उससे असहनीय हो उठा। वह अपने शत्रु से छुटकारा पाने का कोई उपाय सोचने लगा। उसने देखा कि लकड़ियों से लदी हुई एक बैलगाड़ी चली जा रही है। उसने यह कहकर अपना सिर पहिए के नीचे लगा दिया, "जब मैं मर ही रहा हूँ, तो क्यों न अपने शत्रु को भी ले मरूँ।"

साँड़ और बछड़ा

एक साँड़ एक सँकरे मार्ग से होकर अपने स्थान में घुसने का प्रयास कर रहा था। इसके लिए वह अपने शरीर को सिकोड़ने का प्रयास कर रहा था। तभी एक तरुण बछड़ा आ पहुँचा। वह बोला – मैं तुम्हें दिखा देता हूँ कि किस प्रकार इस रास्ते को पार किया जा सकता है। साँड़ ने कहा – इसके लिए तकलीफ उठाने की जरूरत नहीं, क्योंकि यह रास्ता तो मैं तुम्हारे जन्म से भी काफी पहले से जानता हूँ।"

कभी अण्डे भी बच्चो को सिखाने का प्रयास करते हैं।

मोर और बगुला

एक मोर अपने शानदार पंख फैलाए खड़ा था। उसने अपने पास से होकर गुजर रहे मटमैले पंखोंवाले बगुले की निन्दा करते हुए कहा, "मैं एक राजा के समान सुनहरे, नीले तथा इन्द्रधनुष के सारे रंगों में सजा हूँ, जबकि तुम्हारे पंखों पर कोई भी रंग नहीं है।" बगुला बोला, "तुम्हारी बात सही है, पर मैं आकाश की बुलन्दियों में उड़ता हूँ और अपनी आवाज को सितारों तक पहुँचा देता हूँ, जबकि तुम एक मुर्गे के समान कूड़े के ढेर पर घूमते रहते हो।"

देखने में सुन्दर होने से ही कोई श्रेष्ठ नहीं हो जाता।

लोमड़ी और साही

तेज गति से बहनेवाली एक नदी में तैरते समय एक लोमड़ी उसकी धारा में बहकर एक गहरे खड्ड में गिर पड़ी। थकी-मांदी तथा घायल होकर हिलने-डुलने में असमर्थ वह काफी देर तक वहीं पड़ी रही। खून चूसनेवाली भूखी मक्खियों के एक दल ने उसे ढँक लिया। उसके पास से होकर गुजरते हुए एक साही ने उसका कष्ट देखकर उससे पूछा – "तुम्हें तकलीफ दे रही मक्खियों को मैं भगा दूँ क्या?" लोमड़ी ने उत्तर दिया – "नहीं, तुम उन्हें बिल्कुल भी परेशान मत करो।" साही ने कहा, "तो क्या तुम इनसे पीछा छुड़ाना नहीं चाहती?" लोमड़ी बोली, "नहीं, क्योंकि ये मक्खियाँ मेरा खून चूस चुकी हैं और अब डंक नहीं मार रही हैं और यदि तुम इन्हें उड़ा दो, तो उनकी जगह पर और भी भूखी मक्खियाँ आ पहुँचेंगी और मुझमें जो भी खून बचा है, वह सब पी डालेंगी।"

कभी कभी व्यक्ति छोटे संकट से बचने के प्रयास में और भी बड़े संकट में जा फँसता है।

चील्ह, बिल्ली और जंगली सूअर

एक चील्ह ने एक विशाल ओक के पेड़ की चोटी पर अपना घोसला बनाया। उसी वृक्ष के तने के बीच में एक सुविधाजनक कोटर पाकर उसमें एक बिल्ली ने भी अपना बसेरा बना लिया। फिर उसी की जड़ों में माँद बनाकर एक जंगली सूअर अपने बच्चों के साथ रहने लगा। संयोगवश बस गयी इस कॉलोनी को बिल्ली ने चालाकीपूर्वक नष्ट कर डालने का निश्चय किया। अपनी योजना पूरी करने के विचार से वह पेड़ पर चढ़कर चील्ह के घोसले तक जा पहुँची और उससे बोली, "बड़े दुर्भाग्य की बात है कि तुम्हारे और मेरे लिए विनाश की घड़ी अब करीब करीब निकट आ पहुँची है। रोज सुबह तुम जिस सूअर को इस पेड़ के नीचे मिट्टी खोदते देखते हो न, वह इसे उखाड़ डालना चाहता है, ताकि वह हमारे परिवारों को अपना तथा अपने बच्चों का भोजन बना सके।" चील्ह को इस प्रकार आतंकित कर लेने के बाद वह धीरे से सूअर के माँद में घुसी और उससे बोली, "तुम्हारे बच्चे बड़े खतरे में हैं, क्योकि आज जब तुम अपने बच्चों के साथ

भोजन के साथ निकलोगी, तो चील्ह तुम्हारे बच्चों पर झपटने के लिए तैयार मिलेगा।'' इस तरह सूअर को डराने के बाद वह स्वयं भी भयभीत होने का दिखावा करती हुई अपने कोटर में छिप गयी। डरे होने का दिखावा करते हुए वह दिन भर इधर-उधर ताकती रही, परन्तु रात के समय वह दबे पाँव जाकर अपने तथा अपने बच्चों के लिए भोजन जुटा लायी।

इस बीच सूअर के भय से चील्ह अपनी डाल पर बैठा रहा और चील्ह के भय से सूअर भी अपने माँद से बाहर नहीं आया। इस प्रकार वे दोनों ही सपरिवार भूख से मर गये और इस प्रकार बिल्ली तथा उसके बच्चों के लिए काफी काल के लिए भोजन का इन्तजाम हो गया।

स्वार्थी लोगो की बातों में आकर कभी-कभी हम अपना बहुत बड़ा नुकसान कर डालते हैं।

चोर और सराय का मालिक

एक चोर ने एक सराय में भाड़े पर एक कमरा लिया और कुछ दिनों तक इस आशा में वहीं टिका रहा कि उसे कहीं से कुछ चुराने का मौका मिल जायेगा और तब वह अपने खर्च का भुगतान कर देगा। कई दिनों के निरर्थक इन्तजार के बाद एक दिन उसने देखा कि सराय का मालिक एक सुन्दर नया कीमती कोट पहने दरवाजे के पास बैठा है। चोर भी उसके पास बैठकर बातें करने लगा। जब-जब बातें ढीली पड़ने लगती, तब-तब चोर जोरों से जम्हाई लेते हुए भेड़िए के समान आवाज निकालता। इस पर सराय के मालिक ने पूछा, "तुम इतना भयंकर आवाज क्यों निकालते हो?'' चोर बोला, "बताता हूँ, परन्तु पहले आप मेरे कपड़े सँभालिए, नहीं तो मैं इनके टुकड़े-टुकड़े कर डालूँगा। मैं नहीं जानता कि मुझे कब से इस प्रकार जम्हाई लेने की आदत पड़ी या फिर मेरे दोषों या किसी अन्य कारण से इस प्रकार चिल्लाने की सजा मुझे मिली है; परन्तु मैं यह जानता हूँ कि जब मैं तीसरी बार जम्हाई लेता हूँ, तो मैं सचमुच ही एक भेड़िए में परिणत होकर मनुष्यों पर आक्रमण कर बैठता हूँ।'' इतना कहते-कहते उसे जम्हाई तथा भेड़िए के समान चिल्लाने का दूसरा दौरा भी आ गया। सराय के मालिक ने उसकी कहानी सुनकर उस पर विश्वास कर लिया था, अत: वह बहुत घबड़ा गया और अपनी कुर्सी से उठकर भागने लगा। चोर ने उसका कोट पकड़कर उससे यह कहकर रुक जाने का अनुरोध किया, "कृपया ठहर कर मेरे कपड़ों को पकड़िये, नहीं तो भेड़िए के रूप में परिणत होकर आवेश में मैं अपने कपड़ो को फाड़ डालूँगा।'' उसी समय उसने तीसरी बार जम्हाई ली और जोर की आवाज में गुर्राने लगा। सराय का मालिक घबरा गया कि कहीं वह उस पर आक्रमण न कर बैठे और सिर पर पाँव रखकर भाग खड़ा हुआ और सराय में जाकर छिप गया। उसका कीमती कोट चोर के ही हाथ में रह गया। वह उस कोट को ही लेकर चम्पत हो गया और दुबारा उस सराय में नहीं लौटा।

हर कहानी पर विश्वास कर लेना उचित नहीं है।

खच्चर

खूब खाने और निठल्ले बैठे रहने के कारण एक खच्चर को मजा सूझ रहा था। वह इधर-उधर उछल-कूद मचाते हुए स्वयं से कहने लगा, "मेरा पिता अवश्य ही उच्च कोटि के घुड़दौड़ का घोड़ा रहा होगा और उसकी गति तथा तेज मुझे विरासत में मिली हैं। अगले दिन जब उसकी पीठ पर बोझ लादकर उसे दूर की यात्रा पर हाँका गया, तब वह अत्यन्त थककर हताश स्वर में कहने लगा, "मुझसे कुछ गलती हुई है; मेरा पिता जरूर कोई गधा रहा होगा।''

साँप और गरुड़

एक साँप और एक गरुड़ पक्षी के बीच बड़ी भयंकर लड़ाई हो रही थी। साँप ने पक्षी को अपनी कुण्डली में जकड़ लिया था और उसे मारने ही वाला था कि एक ग्रामवासी ने उन्हें देखा और शीघ्रतापूर्वक निकट जाकर साँप की पकड़ को ढीली करके गरुड़ को मुक्त कर दिया। इस प्रकार अपने शत्रु के मुक्त हो जाने पर साँप बड़ा ही कुपित हुआ और उसने चोरी से उस ग्रामवासी के पानी पीने के लोटे में जहर उगल दिया। खतरे से अनजान जब वह ग्रामवासी अपने लोटे से पानी पीने को हुआ, तो गरुड़ ने अपने पंखों से उसके हाथ पर प्रहार किया और लोटे को अपने पंजे में लेकर ऊपर उड़ गया।

दूसरे का किया हुआ उपकार अपने पास लौट आता है।

दो मेढक

दो मेढक एक-दूसरे के पड़ोस में निवास करते थे। उनमें से एक लोगों की दृष्टि से दूर एक गहरे तालाब में रहता था; और दूसरा सड़क के बीच में स्थित छिछले पानी से युक्त एक गड्ढे में निवास करता था। तालाब में रहनेवाले मेढक ने अपने मित्र को सावधान करते हुए अपना निवास बदल लेने की सलाह दी और अनुरोध किया कि वह उसके साथ चलकर तालाब में रहे, जहाँ उसे काफी सुरक्षा तथा बहुतायत से भोजन मिल सकेगा। परन्तु दूसरे मेढक ने यह कहकर इन्कार कर दिया कि उसके लिए अपने चिर-परिचित स्थान को छोड़ पाना उसे बड़ा कठिन प्रतीत हो रहा है। कुछ दिनों बाद एक भारी बैलगाड़ी उस गड्ढे के ऊपर से होकर गुजरी और वह मेढक उसके पहियों से कुचल कर मृत्यु को प्राप्त हुआ।

मनमौजी व्यक्ति हठ करके अपना ही नुकसान करता है।

❖ (क्रमश:) ❖
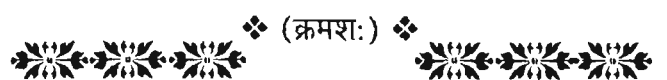
स्वामी विवेकानन्द का महाराष्ट्र-भ्रमण (९)

स्वामी विदेहात्मानन्द

(पिछले अंक में आपने देखा कि स्वामीजी ने किस प्रकार १८९२ के जून में मध्यभारत गये और एक माह से भी अधिक काल खण्डवा, इन्दौर आदि स्थानों का भ्रमण करने के बाद मुम्बई आये और वहाँ पर लगभग दो महीने रहकर शास्त्रों का अध्ययन किया तथा कुछ महत्वपूर्ण लोगों से भेट की। इसके बाद उन्होने पुन: दक्षिण की ओर यात्रा की।)

तिलक के साथ पूना-प्रवास

जैसा कि हम पहले ही बता आये है कि स्वामीजी ने मुम्बई-पूना रेलमार्ग पर दो बार यात्रा की थी। पहली बार १८९२ ई. के अप्रैल में और दूसरी बार उसी वर्ष सितम्बर के अन्तिम सप्ताह में। परन्तु पुराने लेखकों ने तथ्यों के अभाव में दोनों यात्राओं के दौरान हुई घटनाओं को मिला दिया है। उपरोक्त लेखकों के मतानुसार स्वामीजी एक अपरिचित संन्यासी के रूप में यात्रा कर रहे थे और गाड़ी के उसी डिब्बे में लोकमान्य तिलक भी अपने कुछ युवा मित्रों के साथ उपस्थित थे। एक अज्ञात संन्यासी को सहयात्री के रूप में देखकर उनके बीच अंग्रेजी में संन्यासी संन्यास-धर्म के गुणधर्म पर विचार होने लगा और अन्त में स्वामीजी ने उसमें सम्मिलित होकर संन्यास-धर्म की श्रेष्ठता का मण्डन करते हुए चर्चा का समारोप किया। इस पर मुग्ध होकर तिलक ने उनसे पूना में अपने घर आतिथ्य ग्रहण करने का अनुरोध किया। परन्तु जैसा कि हम पहले देख आये है, यह घटना पाँच माह पूर्व हो चुकी थी और आगे हम देखेंगे कि तिलक के निजी संस्मरणों में भी इसका कोई उल्लेख नहीं है।

तिलक के साथ स्वामीजी की पूना-यात्रा का एक अन्य रोचक विवरण भी हमें प्राप्त होता है। श्री धनगोपाल मुखर्जी अमेरिका में बालकथा के एक सफल लेखक के रूप में प्रसिद्ध थे। श्रीरामकृष्ण की जीवनी से सम्बन्धित सामग्री का संकलन करने वे भारत आये थे और १९२६ ई. में न्यूयार्क से उनका 'The Face of Silence' नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ में श्री मुखर्जी ने लिखा है – "संस्कृत विद्वान् तथा देशभक्त तिलक एक बार उनसे गाड़ी में मिले। तिलक कहते हैं, 'मैने उन्हें अपने बगल की सीट पर बैठे देखा। वे बुद्ध के समान दीख रहे थे। परन्तु साधु-संन्यासी चाहे जैसे भी क्यों न दिखें, मेरे मन में उनके प्रति उपेक्षा का ही भाव रहता था। इस अज्ञानी भिक्षुक का मानमर्दन कर आनन्द लेने के निमित्त मैंने उनके साथ संस्कृत में दर्शनशास्त्र पर चर्चा करने का निश्चय किया, क्योंकि मुझे पक्का विश्वास था कि दर्शनशास्त्र का तो उन्होने नाम तक नहीं सुना होगा और संस्कृत के बारे मे तो कहना ही क्या! अत: मैंने प्रारम्भ किया। देवभाषा में उत्तर देकर उन्होने मुझे आश्चर्य में डाल दिया। परन्तु निश्चित रूप से कोई धारणा बनाने के लिए इतना ही यथेष्ट नहीं था, अत: मैंने उनके साथ वेदान्त-चर्चा शुरू की। ज्यों ज्यों हमारी चर्चा आगे बढ़ी, त्यों त्यों उनके मस्तिष्क की प्रांजलता तथा वाक्शैली की भव्यता को देखकर मैं अधिकाधिक विस्मित होता गया। जब गाड़ी मेरे गृहनगर पूना पहुँची, तो मैंने उनसे अपने घर आकर निवास करने को आमंत्रित किया था, पर मैंने कभी उनका नाम नही पूछा। वैसे जिस व्यक्ति ने संसार ही त्याग दिया हो, उसे ऐसी सांसारिक चीजें पूछकर क्यों तंग करना?"

उपरोक्त विवरण प्रामाणिक है क्या? सम्भव है कि यह आंशिक रूप से सत्य हो। जिस समय उपरोक्त ग्रन्थ के लिए सामग्री का संकलन प्रारम्भ हुआ, उस समय तक तिलक इहलोक से प्रस्थान कर चुके थे। अत: सम्भव है लेखक ने तिलक के किसी अन्तरंग मित्र से यह घटना सुनी हो। यद्यपि कुछ गुजराती सज्जनों ने स्वामीजी को गाड़ी में बिठाने आकर, तिलक से उनके पूना में निवास की व्यवस्था कर देने को कहा था; तथापि सम्भव है कि तिलक ने स्वयं भी उक्त संन्यासी को समझने तथा मूल्यांकन करने का विचार किया हो।

अब हम देखेंगे कि स्वामीजी की इस द्वितीय पूना-यात्रा के विषय में लोकमान्य तिलक स्वयं क्या कहते हैं। १९१५ ई. के प्रारम्भ में श्री प्रह्लाद नारायण देशपाण्डे ने उनसे सुनकर इन बातों को मराठी में लिपिबद्ध कर लिया था। तिलक ने उन्हें बताया था – "१८९२ ई. में एक बार मैं मुम्बई से पूना लौट रहा था। उस समय दूसरे दर्जे के जिस डिब्बे में मैं बैठा था, उसी में आकर एक संन्यासी भी बैठे। कुछ गुजराती सज्जन उन्हे छोड़ने आये थे और उन्हीं लोगों ने उनका टिकट खरीद दिया था। पूना मे उनकी किसी से पहचान न होने के कारण उन लोगों ने मेरे साथ परिचय कराकर उन्हें मेरे ही घर निवास करने को कहा। पूना में अपने घर पहुँचकर मैंने एक अलग कमरा उन्हे दे दिया। वहाँ पर वे आठ-दस दिन रहे। सामान के नाम पर स्वामीजी के पास केवल एक मृगछाला, दण्ड-कमण्डलु, दो वस्त्र तथा कुछ पुस्तकें थीं। वे किसी के साथ ज्यादा बातचीत नही करते थे। बीच-बीच में केवल मैं ही उनके साथ चर्चा किया करता था। उन दिनों हमारे हीराबाग में स्थित क्लब में हर सप्ताह क्लब की सभा होती थी। कोई एक व्यक्ति किसी विषय पर व्याख्यान देता था और तदुपरान्त सदस्यों के बीच उसी विषय पर चर्चा होती थी। सभी भाषण अंग्रेजी में होते थे। एक दिन हमारी इस सभा में मैं स्वामीजी को भी साथ ले गया। उस दिन श्री काशीनाथ गोविन्द नातू वकील ने अपने भाषण के द्वारा दर्शन-विषयक एक प्रश्न का

पूर्वपक्ष उपस्थित किया। उस पर सदा के समान चर्चा होनी थी, परन्तु विषय हमेशा से कुछ अलग होने के कारण उस पर बोलने के लिए उठने को कोई तत्पर नहीं दिखा। तब मैंने स्वामीजी से कहा, 'आपको कुछ कहना हो तो बोलिए।' इसके बाद उस विषय के उत्तरपक्ष पर लगभग एक घण्टा बोलते हुए स्वामीजी ने उसे इतनी उत्तम रीति से तथा अस्खलित रूप में प्रस्तुत किया कि पूरी सभा आश्चर्यचकित रह गयी। उस दिन से नगर के अधिकाधिक लोग उनके पास आने लगे। उनके साथ स्वामीजी की भगवद्गीता, उपनिषद् आदि पर चर्चा हुआ करती थी। स्वामीजी ने अपना नाम नहीं बताया था। भगवद्गीता मेरा प्रिय विषय है। उस पर भी मैने स्वामीजी के साथ दो-तीन बार चर्चा की और यह जानकर मुझे सन्तोष हुआ कि मेरे ही समान वे भी सोचते हैं कि निष्काम कर्मयोग ही गीता का सार तथा मर्म है। दिन-पर-दिन स्वामीजी के पास आनेवाले लोगों की संख्या बढ़ने लगी। तब एक दिन स्वामीजी ने मुझसे कहा, 'कल मैं चला जाऊँगा'; और अगले दिन सुबह किसी के उठने के पूर्व ही स्वामीजी प्रस्थान कर चुके थे।''

श्री देशपाण्डे द्वारा लिपिबद्ध उपरोक्त विवरण के अलावा 'Reminiscences of Swami Vivekananda' (स्वामी विवेकानन्द के संस्मरण) ग्रन्थ में तिलक के संस्मरणों का एक अन्य विवरण भी प्राप्त होता है, जिसमें उपरोक्त बातों के अतिरिक्त तिलक ने बताया है, ''चूँकि महाराष्ट्र की महिलाएँ परदा प्रथा के द्वारा प्रतिबाधित नहीं है, अतएव स्वामीजी ने हार्दिक आशा व्यक्त की थी कि बौद्ध काल के प्राचीन योगियों की भाँति सम्भव है यहाँ के उच्च वर्ण की विधवाएँ केवल धर्म तथा आध्यात्मिकता के प्रचारार्थ अपना जीवन अर्पित कर देंगी।'' 'केसरी' के १६ फरवरी १८९७ ई. के अंक में तिलक ने लिखा है, ''चार वर्ष पूर्व वे पूना आये थे तथा डेकन क्लब में हुई पहली सांध्य-गोष्ठी में उपस्थित होकर उन्होंने उस व्याख्यान-कार्यक्रम में काफी रंग ला दिया था। यह बात पूना के अनेक निवासी अब भी न भूले होंगे।'' स्वामीजी के देहत्याग के पश्चात् ८ जुलाई १९०२ ई. के 'केसरी' में सम्पादकीय लेख में तिलक ने बताया है कि पूना से स्वामीजी महाबलेश्वर तथा बेलगाँव गये थे।

पुनः महाबलेश्वर में

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामीजी एक बार फिर महाबलेश्वर गये थे। वे वहाँ किस प्रकार पहुँचे, कहाँ और कितने दिन रहे इस विषय में कोई निश्चित जानकारी नहीं मिलती। तथापि यत्र-तत्र कुछ रोचक विवरण प्राप्त होते हैं और उनके आधार पर हम उनके महाबलेश्वर-प्रवास का एक आनुमानिक खाका बना सकते हैं।

स्वामीजी के गुरुभाई स्वामी अभेदानन्द ने अपनी बँगला में लिखित आत्मकथा 'आमार जीवनकथा' (तृतीय सं., पृ. १६७) में बताया है – ''मुम्बई नगर का परिभ्रमण करने के पश्चात् मैं वहाँ से महाबलेश्वर जा पहुँचा। सुनने में आया कि वहाँ नरोत्तम मोरारजी गोकुलदास बड़े ही अतिथिपरायण और सज्जन व्यक्ति हैं। पूछताछ करते हुए जब मैं गोकुलदास जी के घर पहुँचा, तो पता चला कि नरेन्द्रनाथ (स्वामीजी) भी एक दिन पूर्व वहाँ आ पहुँचे हैं। श्री ठाकुर की कृपा से वहाँ भी मेरी नरेन्द्रनाथ से मुलाकात हो गयी। गोकुलदास जी ने मुझे नरेन्द्रनाथ अर्थात् स्वामी सच्चिदानन्द का गुरुभाई जानकर बड़े प्रेम से स्वागत किया। नरेन्द्रनाथ ने हँसते हुए मुझसे कहा, 'भाई, तुम व्यर्थ ही क्यों मेरे पीछे पड़े हो? हम दोनों ही श्री ठाकुर का नाम लेकर निकले हैं और हमारा स्वाधीन रूप से भ्रमण करना ही उचित है।' मैंने कहा, 'मैं भला तुम्हारा पीछा क्यों करने लगा? मैं घूमते हुए यहाँ आ पहुँचा हूँ और तुमने भी ऐसा ही किया है। श्री ठाकुर की इच्छा से यहाँ पुनः हम दोनों का मिलन हो गया है। भाई, मैं जान-बूझकर तुम्हारा पीछा नहीं कर रहा हूँ।' नरेन्द्रनाथ ठहाका मारकर हँसने लगे। मैंने कहा, 'अब मैं पूना, बड़ौदा, दण्डकारण्य आदि होते हुए दक्षिण भारत की ओर प्रस्थान करूँगा और तुम उत्तर की ओर जाओ, तो फिर हम दोनों के पुनः मिलने का कोई अवसर नहीं आयेगा।' नरेन्द्रनाथ फिर उच्च स्वर से हँसने लगे। गोकुलदास जी हम दोनों की बातें सुन रहे थे, परन्तु उसका मर्म बिल्कुल भी न समझ पाए। उन्होंने केवल इतना ही कहा, 'मेरा परम सौभाग्य है कि आप लोगों के समान दो महापुरुष मुझे एक साथ ही प्राप्त हुए हैं।' अस्तु। गोकुलदास जी के आन्तरिक अनुरोध पर मैंने तीन दिन वहाँ नरेन्द्रनाथ के साथ बिताए और चौथे दिन पूना की ओर प्रस्थान करने का संकल्प कर मैंने नरेन्द्रनाथ को सूचित किया। उन्होंने कहा, 'जब हम श्री ठाकुर का नाम लेकर निकले हैं, तो अवश्य ही वे हमारा कल्याण करेंगे।' मैं नरेन्द्रनाथ तथा गृहस्वामी गोकुलदास जी से विदा लेकर पूना की ओर चल पड़ा।''

स्वामीजी ने महाबलेश्वर में कुछ दिन बिताने के बाद सम्भव है सतारा आदि आसपास के स्थानों का भी भ्रमण किया हो और पुनः महाबलेश्वर लौट आये हों। अमरावती के सुप्रसिद्ध निवासी सर मोरोपन्त जोशी की सहधर्मिणी श्रीमती यशोदा बाई जोशी की आत्मकथा 'आमचा जीवनप्रवास' (हमारी जीवनयात्रा) से ऐसा भी संकेत मिलता है। उपरोक्त ग्रन्थ (पृ. ४७-४८) में उन्होंने स्वामीजी द्वारा अपने महाबलेश्वर के निवास में आतिथ्य ग्रहण करने का एक रोचक विवरण दिया है। यद्यपि इस घटना का काल उन्होंने १८९१ ई. के गर्मी का मौसम बताया है, तथापि काफी काल बाद लिखित तथा मरणोपरान्त १९६५ ई. में प्रकाशित इस ग्रन्थ में वर्ष, मास आदि की गणना में त्रुटि भी हो सकती है। आगे (पृ. ५७) उन्होंने इसी घटना का काल १८९२ ई. बताया है, अतः हमें

लगता है कि इसका समय १८९२ ई. के अक्तूबर का पूर्वार्ध रहा होगा और उस समय भी महाराष्ट्र में काफी गरमी पड़ती है। श्रीमती यशोदा बाई लिखती हैं, "प्रति वर्ष की ही भाँति इस वर्ष भी गरमी की छुट्टियों में हम लोग महाबलेश्वर गए। एक दिन सुबह मैं तथा अण्णा साहब (सर जोशी) टहलकर लौटते समय बाजारपेठ में हाउस-एजेंट श्री दीक्षित के यहाँ बैठे थे। इतने में शरीर पर एक लबादा तथा सिर पर पगड़ी धारण किये एक युवा तथा भव्य तेजस्वी पुरुष वहाँ आये। वे काफी थके हुए दीख पड़ते थे। वे वहाँ पूछताछ करने लगे, "मैं एक पथिक हूँ। सतारा से आया हूँ। यहाँ कहीं मेरे खाने-पीने की व्यवस्था हो सकती है क्या?' उन्हें देखते ही मेरे मन में उनके प्रति एक विशेष प्रकार के आदर तथा अपनत्व का भाव जगने लगा। मैंने उनसे कहा, 'चलिए हमारे घर! मैं आपके खाने-पीने की व्यवस्था कर देती हूँ।' तब वे हमारे घर आये। उनकी बोलचाल देखकर हमे विश्वास हो गया कि वे किसी बड़े घराने के भले तथा विद्वान् व्यक्ति हैं। अण्णा साहब ने तीन-चार सप्ताह उन्हें अपने घर में रखा। ईश्वर के अस्तित्व के विषय में वाद-विवाद करना उन्हें बड़ा ही प्रिय था और उस पर इनसे भेंट हो गई। अत: प्रतिदिन अनेक लोग हमारे घर एकत्र होते और फिर टहलने को जाते। इस दौरान उन लोगों के बीच उपरोक्त विषय पर वाद-विवाद चलता रहता था। उनके भगवे वस्त्र देखकर सभी उन्हें 'स्वामीजी' कहकर सम्बोधित करते। उनका रहन-सहन बड़ा सादा और आचरण अत्यन्त मर्यादित था। वे हर रात ९ बजे से भोर ४ बजे तक ध्यान में बैठते और दिन के समय लोगों के साथ वार्तालाप करते।

"हमारे घर आने के अगले दिन ही वे अण्णा साहब से बोले, 'देख रहा हूँ कि आपके घर बहुत से मेहमान आये हुए हैं। ये माताजी (अर्थात् 'मैं') सदा कामकाज में व्यस्त रहती हैं। थक जाती होंगी। आपकी यह छोटी बच्ची रात में रोती है। सो रात में यदि मैं इसे सँभाल लिया करूँ तो इसमें आपको कोई आपत्ति है क्या?' अण्णा साहब बोले, 'वैसे हमें कोई आपत्ति तो नहीं है, परन्तु अपनी बच्ची के लिए भला आपको मैं क्यों कष्ट दूँगा?' उन्होंने कहा, 'नहीं, यह मुझे जरा भी कष्ट नहीं देगी। एक दिन देखिए तो सही!' उस रात जप में बैठने के पूर्व वे हमारे पास आकर बोले, 'माताजी, आज आप इस बच्ची को मेरी झोली में रखकर देखिये न!' मैंने कमलाबाई को चद्दर से अच्छी तरह ढँककर उनकी झोली में दे दिया। वे उस झोली को (गोद में) लेकर रात भर ध्यान में बैठे रहे। आश्चर्य की बात यह है कि रात भर बच्ची ने चूँ तक नहीं की। (तब उसकी आयु ९-१० महीने थी।) जब मैं प्रतिदिन के समान सुबह चार बजे उठी, तो स्वामीजी ने बच्ची को लाकर मुझे दे दिया। वे तीन-चार सप्ताह हमारे घर रहे और प्रतिदिन वे ऐसा ही करते रहे। कह नहीं सकती कि इस बच्ची तथा उनके बीच पूर्वजन्म का कोई सम्बन्ध था या नहीं, परन्तु मेरी सभी कन्याओं में यही सर्वाधिक शान्त तथा उदात्त स्वभाव की हुई। उसे तथा हम सबको अपना कृपाप्रसाद देनेवाले अन्य कोई नहीं, बाद में जगद्वन्द्य हुए स्वामी विवेकानन्द थे।"

इसी ग्रन्थ में अन्यत्र (पृ.५७) यशोदाबाई ने लिखा है, "हमारा मन ईश्वरभक्ति की ओर उन्मुख करने में जो लोग कारणीभूत हुए, उनमें ... दूसरे महान् व्यक्ति स्वामी विवेकानन्द थे। १८९२ ई. में महाबलेश्वर में उन्होंने हमारे घर निवास किया था, इस विषय में मैं आगे बता चुकी हूँ। उस समय हम नहीं समझ सके थे कि वे इतने महान् व्यक्ति हैं और दुर्भाग्यवश बाद में दुबारा उनसे भेंट भी नहीं हुई। तथापि उनके सत्संग का फल हमें अवश्य प्राप्त हुआ।"

श्री शैलन्द्रनाथ धर ने इस घटना का और भी विस्तृत विवरण जानने के लिए यशोदाबाई की ज्येष्ठ पुत्री श्रीमती लक्ष्मी बाई राजवाड़े के साथ पत्र-व्यवहार किया था। इसके फलस्वरूप उन्हें जो महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त हुई, उसे उन्होंने अपने 'A Comprihensive Biography of Swami Vivekananda (Part II, pp. 1484) (स्वामी विवेकानन्द की सविस्तार जीवनी) ग्रन्थ के परिशिष्ट भाग में दिया है। उसमें से कुछ चुने हुए अंश इस प्रकार हैं –

लक्ष्मीबाई के पिता सर मोरोपन्त जोशी ने प्रति वर्ष के समान ही उस वर्ष भी महाबलेश्वर की ठण्डी जलवायु में विश्राम के हेतु बाजारपेठ के निकट मालकमपेठ में एक छोटा-सा बँगला किराये पर लिया था। लक्ष्मीबाई की आयु तब पाँच या साढ़े पाँच वर्ष की रही होगी। उन्होंने स्वामीजी को संन्यासी के वेष में हाथ में लम्बी छड़ी लिए अपने पिता के पास आये हुए देखा था। उनकी छोटी बहन कमला, जो बाद में सांगली राज्य की महारानी हुई, उस समय लगभग छ: महीने की बच्ची थी। शाम से ही लेकर रात भर उसके रोने के कारण उनकी माताजी की नींद में बाधा पड़ती थी। दो दिन लगातार ऐसा ही होते देखकर स्वामीजी ने श्रीमती जोशी से अनुरोध किया कि वे रात के समय बच्ची को उनके संरक्षण में दे दें। श्रीमती जोशी ने संकोच के कारण मना कर दिया। तब स्वामीजी ने अण्णा साहब से आग्रह कर इस सम्बन्ध में प्रयास करने की स्वीकृति ले ली। उसके बाद श्रीमती राजवाड़े के शब्दों में "बच्ची श्री स्वामीजी को सौंप दी गई। इसके पश्चात् वे उसे गोद में लेकर ध्यान में बैठे गये, जो बिना किसी प्रकार की आवाज किये शान्तिपूर्वक सोती रही। इसी प्रकार कई दिन हुआ। अपने सम्पूर्ण जीवन में अत्यन्त प्रतिकूल परिस्थितियाँ आने पर भी मेरी बहन ने जो अपना मानसिक सन्तुलन बनाए रखा, उसे हम अपने महाबलेश्वर के साधारण-से घर में आये हुए महान् अतिथि श्री स्वामीजी के ही आशीर्वाद का फल मानते थे।"

इस प्रकार हम देखते है कि स्वामीजी का महाबलेश्वर के प्रति विशेष आकर्षण था और उन्होंने सम्भवत: वहाँ दो बार जाकर निवास किया था।

जोशी परिवार का स्वामीजी के प्रति आकर्षण और भी एक तथ्य के द्वारा विदित होता है। जैसा कि श्रीमती यशोदाबाई ने लिखा है कि वे लोग दुबारा स्वामीजी से नहीं मिल सके थे। परन्तु स्वामीजी के अल्पायु में ही महासमाधि के पश्चात् उनकी प्रमुख शिष्या भगिनी निवेदिता को व्याख्यान के लिए अमरावती आने का आमंत्रण देते हुए सर मोरोपन्त जोशी ने ही उनके साथ पत्र-व्यवहार किया था। यह जानकारी हमें श्री दादा साहब खापर्डे की डायरी[१] में प्राप्त होती है। (क्रमश:)

१. देखिए – बँगला ग्रन्थ 'लोकमाता निवेदिता' भाग ३, परिशिष्ट

माँ सारदा का दैवी स्वरूप

डॉ. एस. एन. पी. सिन्हा

ममतामयी माँ सारदा के प्रति स्वयं भगवान श्रीरामकृष्ण ने कहा था – "वह मेरी शक्ति हैं।" श्रीकृष्ण की शक्ति थीं – राधा, यह पुराण सम्मत है। यथा – **राधा कृष्णात्मिका नित्यम् कृष्ण राधात्मक: ध्रुवम्** – अर्थात् राधा की आत्मा नित्य श्रीकृष्ण हैं और श्रीकृष्ण की आत्मा श्रीराधा हैं (ब्रह्मपुराण)। अध्यात्म-रामायण में सीता-तत्त्व की विवेचना इस प्रकार है – **एको विभासि राम त्वं मायया बहुरूपया** तथा **योगमायापि सीतेति** – अर्थात् एक मात्र सत्य वस्तु श्रीराम ही बहुरूपिणी माया को स्वीकार कर विश्व में भासित हो रहे हैं और सीता ही वह योगमाया हैं। श्री माँ ने स्वयं ही कहा था – "ठाकुर का सभी प्राणियों के प्रति मातृभाव था। उसी मातृभाव का जगत् में प्रचार करने के लिये वे मुझे छोड़ गये हैं।" श्रीमाँ भगवान श्रीरामकृष्ण के शक्ति-तत्त्व रूप में उनकी लीला में सहयोगिनी स्वरूप थीं – **शक्ति स्वरूपा मातृरूपेण**।

प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुराणों में सतीत्व तथा नारी-शक्ति की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है। भगवान राम के साथ श्रीसीता, श्रीकृष्ण के साथ श्रीराधा, सत्यवान के जीवन में सावित्री की दृढ़ता के समक्ष यमराज की पराजय, औपनिषदिक वाङ्मय में ब्रह्मवादिनी नारियों के उदात्त चरित्र के उदाहरण, ईसाई और बौद्ध साहित्य में संन्यासियों की महत् गाथायें सर्वत्र परिलक्षित हैं, किन्तु मानव-जाति के इतिहास में मातृत्व का उदाहरण श्रीमाँ सारदा देवी के जीवन में सर्वाधिक विलक्षण रूप में परिलक्षित है। दक्षिणेश्वर के अपने कमरे की छोटी चौकी पर बैठे थे श्रीरामकृष्ण। श्री माँ ने पूछा – "मैं तुम्हारी कौन हूँ?" उनका उत्तर था, "तुम मेरी आनन्दमयी माँ हो, जो माँ मन्दिर में हैं – वही।" श्रीमाँ की षोडशी पूजा कर श्रीरामकृष्ण ने मातृत्व को सुप्रतिष्ठित किया। श्रीमाँ मातृशक्ति-स्वरूप बनी रहीं, पूजित रहीं और विश्व 'जननी' हो गयीं। यह सत्य है कि समस्त वसुन्धरा में उनके समान 'माँ' शब्द से सम्बोधित की जानेवाली कोई माता नहीं। उनके सरल, पवित्र, करुण और समर्पणशील जीवन में भारतीय वैदिक संस्कृति में प्रतिष्ठित परिपूर्ण नारी-आदर्श के दर्शन होते हैं।

माँ सारदा के जीवन में मानवीय और दैवीभाव का अद्भुत समन्वय था। आध्यात्मिक शक्ति के अतिरिक्त उनके मानवीय गुण भी इतने प्रभावशाली थे कि वे संसार की आँखों में उन्हें अनुकरणीय चरित्र बनाने को यथेष्ट थे। उनमें भारतीय नारीत्व की विलक्षण पूर्णता थी। उनका अद्भुत वात्सल्य-प्रेम जाति, सम्प्रदाय तथा भौगोलिक सीमा से परे था। उनकी मातृ-शक्ति की सर्वव्यापकता को जाति-भेद की लघुता-गुरुता संकुचित करने में समर्थ नहीं रही। मातृस्नेह की गोद में स्वामी सारदानन्द और अमजद, पादपद्मों में नरेन, भगवान श्रीरामकृष्ण की शक्ति मातृरूपेण-विराट् रूप में यही 'माँ' की विलक्षणता को उद्घाटित करता है। वे भगवान श्रीरामकृष्ण की सहधर्मिणी तथा 'भारतीय नारियों के आदर्श' पर मानो अन्तिम शब्द थीं। स्वामी विवेकानन्द ने उनके प्रति अपने श्रद्धा-सुमन को यों अर्पित किया था – "माँ क्या चीज है, अब तक तुम लोग समझ नहीं सके हो, कोई भी नहीं समझ सका है। धीरे-धीरे समझोगे। भाई ! शक्ति के बिना जगत् का उद्धार नहीं होगा। हमारा देश सबसे पिछड़ा और शक्तिहीन क्यों है? इसलिये कि यहाँ शक्ति का तिरस्कार होता है। भारत में उसी महाशक्ति को जगाने के लिये माँ का अविर्भाव हुआ है। उन्हीं को केन्द्र बनाकर संसार में फिर से गार्गी, मैत्रेयी आदि का जन्म होगा। मेरे लिये श्रीमाँ की कृपा पिता की कृपा से लाखों गुना मूल्यवान है। अमेरिका जाने से पहले मैंने माँ से आशीर्वाद माँगते हुये एक पत्र लिखा था। उनका आशीर्वाद मिला और मैं 'हुप' करके सागर पार हो गया। रामकृष्ण परमहंस ईश्वर थे या मनुष्य, चाहे जो कह लो, पर भाई, जिसकी माँ के प्रति भक्ति नहीं, उसे धिक्कार है।"

स्वामी विवेकानन्द गुरुभाइयों से कहा करते थे – "श्रीमाँ जीवन्त दुर्गा हैं।" वे अपने पत्रों में लगातार श्रीमाँ के दिव्य स्वरूप का वर्णन करते थकते नहीं थे। स्वामी सारदानन्द की अमर दिव्य अनुभूति थी –

यथाग्रेर्दाहिका-शक्ती रामकृष्णे स्थिता हि या।
सर्वविद्या-स्वरूपां तां सारदां प्रणमाम्यहम् ।।

ब्रह्मज्ञानी स्वामी विज्ञानानन्द जी के उद्गार थे – "ठाकुर चैतन्य-स्वरूप हैं और माँ चैतन्य-स्वरूपिणी सर्वशक्तिमयी।" वेदान्ती स्वामी तुरीयानन्द जी ने इन शब्दों में श्रद्धा-सुमन अर्पित किये थे – "जगत्-कल्याण के लिये वे कैसी महाशक्तिमयी है। विचारणीय है कि हम लोग जिस शक्ति को सतत कंठ-स्थान में उत्थित करने का प्रयास करते हैं, उसी को वे राधू-राधू कहकर वहाँ उतार रही हैं। जय माँ महाशक्ति!"

अपने अलौकिक मातृ-स्नेह से माँ सारदा ने धनवान, ऐश्वर्यवान, विद्वान्, दीन-हीन, दुखी, कुटियावासी, भ्रष्ट-पतित, सती-पुण्यवती, साधु-सन्त, पापी-तेजस्वी से लेकर अवतार श्रीरामकृष्ण तक को धारण किया। भगवान श्रीरामकृष्ण का अनुभव था कि भवतारिणी एवं माँ सारदा अभेद हैं। माँ सारदा का मातृत्व शक्ति-तत्त्व भी श्रीरामकृष्ण के आध्यात्मिक-चिन्तन-साधना की वैसी ही शक्ति थी, जैसे देवी और शिव की है। शक्ति से युक्त होकर ही शिव सृष्टि, पालन तथा संहार कार्य में समर्थ होते है – **शिवः शक्त्यायुक्तोऽपि भवत शक्तिः प्रभवितुं** – अर्थात् शिव भी शक्ति के बिना शव सदृश हो जाते हैं, निश्चेष्ट हो जाते हैं। श्री विद्या ही आत्मशक्ति हैं। ये ही परमात्म-शक्ति हैं। ये ही श्री महाविद्या हैं – **एषात्मशक्तिः ... एषा श्री महाविद्या**। चराचर में चैतन्य, धृति, कीर्ति, बुद्धि, कान्ति, करुणा, वाक्शक्ति, श्रद्धा, मेधा, दया, लज्जा, क्षुधा, तृष्णा, मातृ और निद्रा ये सभी शक्तियाँ 'श्री महाविद्या' की साधना के फलस्वरूप ही प्राप्त होती हैं। जड़-चेतन सभी के अन्दर व्यक्त या अव्यक्त भाव से उर्जा-शक्ति विद्यमान है – **नित्यमेव सा जगन्मूर्तिः तस्या सर्वमिदं ततम्**। श्री दुर्गासप्तशती में 'नारायणी-स्तुति' में इसका विश्लेषण इस प्रकार है –

विद्या समस्तास्तव देवि भेदाः
स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु।
त्वयैकया पूरितमम्ब एतत्
का ते स्तुतिः स्तव्यपरापरोक्तिः ।।

अर्थात् हे देवि! समस्त संसार की सभी विद्याएँ और सब स्त्रियाँ तुम्हारे ही विविध रूप हैं। समस्त विश्व तुमसे पूरित है। अतः तुम्हारी स्तुति कैसे हो? सप्तशती में ही आगे इसका उत्तर है – **सर्वस्य बुद्धिरूपेण जनस्य हृदि संस्थिते** – हे देवि! तुम बुद्धिरूप में सबके हृदय में स्थित हो, वस्तुतः सबके हृदय मे विराजमान हो। अतः सबको हृदयशक्ति आत्मशक्ति की उपासना करनी चाहिये। **या देवी सर्वभूतेषु बुद्धिरूपेण ... शक्तिरूपेण संस्थिता**..। सारी शक्ति मानवतन की आत्मा में केन्द्रीभूत है। आत्मशक्ति को जागृत कर ही परमशक्ति को प्राप्त किया जा सकता है। शक्तितत्त्व का मूल आत्मोन्नति ही है। भगवान श्रीरामकृष्ण की 'आत्मशक्ति' 'माँ सारदातत्त्व' थी – मातृशक्तिरूपेण। श्रीमाँ सारदा ने भी 'देविसूक्तम्' की भाषा में माँ आद्याशक्ति के अनुरूप ही कार्य किया था। यथा –

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां
चिकितुषी प्रथमा याज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा
भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम् ।।

अर्थात् "मैं पूरे जगत् की अधीश्वरी, उपासकों की धनदायी देवी व परब्रह्म हूँ। अतः मैं ही यज्ञों में सर्वश्रेष्ठ हूँ। प्रपंचरूप में मैं ही नाना भावों में अवस्थित एवं सर्वभूतों में जीव रूप में ही प्रविष्ट हूँ। सुर-नर-मुनि नाना भाँति से मेरी ही आराधना करते हैं।" जगत् में जितनी भी शक्तियाँ हैं, उसकी समष्टि स्वरूपिणी वे ही हैं और शक्ति की सभी अभिव्यक्तियाँ 'माँ' ही है। वह ब्रह्म ही माँ है – प्राणरूपिणी, बुद्धिरूपिणी, प्रेमरूपिणी और करुणारूपिणी। श्रीमाँ भगवान श्रीरामकृष्ण के हृदय में मातृरूपेण प्रविष्ट हैं। उनकी आराधना में वस्तुतः माँ सारदा की आराधना है – 'माँ आद्याशक्ति की।' अत्यन्त साधारण दिनचर्या के माध्यम से जगन्माता के सार्वभौमिक मातृभाव को सुस्पष्ट कर गयीं। माँ सारदा – ममतामयी माँ –'सबकी माँ।' भगवान श्रीरामकृष्ण की भी विलक्षण शक्ति – मायाशक्ति, आद्याशक्ति, त्रिगुणात्मिकाशक्ति मातृरूपेण है। उनकी आध्यात्मिक शक्ति-साधना, त्याग-तपस्या-तितिक्षा-करुणा-दया सबकी पराकाष्ठा रूप में उनमें मातृरूप में स्थित है। भगवान श्रीरामकृष्ण के सर्वधर्म-साधना-समन्वय व आध्यात्मिकता की स्थापना में श्रीमाँ ने मातृशक्ति के सर्वोत्कृष्ट एवं सर्वोच्च रूप को प्रतिष्ठित किया। श्रीमाँ के दाम्पत्य जीवन में परस्पर प्रगाढ़ प्रेम (राधा-भाव से) और गहन श्रद्धा-भक्ति एवं परस्पर सेवा-भाव (सीता-भाव से) – सब कुछ अतुलनीय एवं अभूतपूर्व है।

श्रीमाँ की अमृतवाणी है – "जिसमें दया नहीं वह भी क्या मनुष्य है? कामना ही समस्त दुखों का मूल है। यह जन्म-मृत्यु का कारण है और मुक्ति-पथ का बाधक है। ... जो उन (भगवान श्रीरामकृष्ण) पर निर्भर हैं, वे सभी विपत्तियों से रक्षा करते हैं। ... प्रेम ही आध्यात्मिक जीवन का सार है। ... बेटी, यदि शान्ति चाहती हो तो किसी का दोष मत देखना, दोष देखना हो तो अपना देखना। प्यार करो, घृणा नहीं।" श्रीरामकृष्ण देव ने कहा था – "जीव-सेवा ही शिव-सेवा है। दुःखी जन की सेवा करो। जो ईश्वर के लिये सब कुछ त्याग देता है, वही शरीरधारी ईश्वर है।" ... सदाचरण व्यवहार में उतारना चाहिये। यही परम धर्म है।

ये थे उनके निर्मल हृदय के निर्मल उद्गार। उनकी ये अमृतवाणी मानो विश्व के सारे सद्ग्रन्थों का सार है। आचरण में अपनाने और जीवन में उतारने से हमें ये **तमसो मा ज्योतिर्गमय** के पथ पर ले जायेगी। ऐसी ममतामयी श्रीमाँ को शतशः, कोटिशः नमन –

या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ।।

आत्मदीपो भव

भैरवदत्त उपाध्याय

दीपक ज्योति का प्रतीक है। प्रकाश का मूर्त रूप है। उसका कार्य दूसरों को प्रकाश देना है। अन्धकार में भटकते हुए जन को मार्गदर्शन देना है। उसके भय को दूर करना है और अन्धकार-सागर में डूबी वस्तुओं के स्वरूप का ज्ञान कराना है। अन्धकार के कारण व्यक्ति रस्सी को सर्प और ठूँठ को पुरुष समझकर भयभीत हो जाता है। जब उसे प्रकाश मिलता है, तब वह प्रकृतिस्थ हो जाता है। एक कक्ष में अनेक वस्तुएँ रखी हैं, पर अन्धकार होने के कारण हम उन्हें पहचान नहीं पाते हैं। जैसे ही नन्हें से दीपक की किरणें पहुँचती हैं, उनका आकार स्पष्ट हो जाता है। अन्धकार अज्ञान का प्रतीक है और दीपक ज्ञान का। अज्ञान का ढक्कन जब ज्ञान के दीपक को ढँक लेता है, तब हमें सत्य-असत्य का विवेक नहीं होता। हमारी भेदक दृष्टि उपहत हो जाती है।

हमें देखने के लिए दृष्टि तथा आलोक की आवश्यकता होती है। दोनों में से एक भी अनुपस्थित होने पर कार्यसिद्धि नहीं होती, क्योंकि अन्धे के हाथ में दीपक रख देने पर भी वह देख नहीं पाता और दृष्टि रहने पर भी यदि आलोक का अभाव हो, तो भी देख पाना सम्भव नहीं होता। अतएव आन्तरिक तथा बाह्य - दोनों ओर आलोक का होना अनिवार्य है। शास्त्रों का आलोक बाह्य आलोक है, उसके लिए विवेक के आन्तरिक दीपक की अपेक्षा है। इसलिए बाहरी दीपक को जलाने के साथ अर्थात् शास्त्रों के अध्ययन के साथ विवेक का भीतरी दीपक भी जलाना चाहिए।

दीपक दूसरों को प्रकाश देता है, पर उसके नीचे अन्धकार रहता है, वहाँ तक उसका प्रकाश नहीं पहुँच पाता। इसीलिए 'दिया तले अँधेरा' - एक लोकोक्ति ही चल पड़ी है। इसका आशय यह है कि लोग दूसरों को तो ज्ञान देते हैं, मार्ग सुझाते हैं, उपदेश देते हैं, पर वे उन बातों को अपने आचरण में नहीं उतारते। लोगों की कथनी और करनी में अन्तर होता है। इसे मिटाना पहला काम है, क्योंकि बिना आचरण के, बिना व्यावहारिक पक्ष के, सिद्धान्तों का कोई महत्त्व नहीं है। लोग व्यवहार चाहते हैं, आचरण चाहते हैं।

भगवान बुद्ध ने 'आत्मदीपो भव' का उपदेश दिया था। उनका कथन था कि आत्मा अर्थात् अपने स्वयं के लिए दीपक बनो, दीपक के समान ज्योति के केन्द्र बनो और सर्वप्रथम अपने भीतर का अँधेरा भगाओ। हमारे भीतर अज्ञान तथा जड़ता का घना अँधेरा है, उसके रहते हमारा सम्पूर्ण विकास और समूचा चातुर्य व्यर्थ है। ज्ञान की सम्पूर्ण साधना निरर्थक है।

प्रगति-विरोधी चिन्तन तथा दिशा हमारी बुद्धि की जड़ता का परिणाम है। बुद्धि जाग्रत हो, यह आवश्यक है, परन्तु उसकी जड़ता का विनाश परमावश्यक है। जड़ता गतिहीन होती है। जड़ता की चट्टान पर प्रगति-कमल का खिलना, चिन्तन को नई दिशाएँ मिलना और लोकमगल की भावना का अभिवर्धन असम्भव है। जड़ता - मोह, आसक्ति, निश्चेतना, अकर्मण्यता और मृत्यु है। उसका उन्मूलन मानव-जीवन का परम ध्येय है।

दीपक में वर्तिका - बाती का महत्त्व है, क्योंकि बिना बाती के दीपक जलता नहीं और बिना तेल के बाती भी अधिक काल तक रोशनी नहीं कर सकती। तेल को स्नेह की भी संज्ञा दी जाती है। शरीर के दीपक में आत्मा की बाती और स्नेह का, प्रेम का तेल हो, तो हमारे चारों ओर प्रकाश-ही-प्रकाश भर उठे।

हमारी आत्मा में ज्ञान का दीपक जब जलता है, तब विषय-वासनाओं की आँधी चलने लगती है और इन्द्रियों के दरवाजे खुल जाते हैं, जिससे वह दीपक बुझने लगता है। हमें उन दरवाजों पर नियंत्रण रखना है, ताकि ज्ञान का दीपक न बुझे और हमें निरन्तर प्रकाश मिलता रहे।

बाती दूसरों को प्रकाश पहुँचाने के लिए तिल-तिल कर जलती है और अन्त में अपने अस्तित्व के मिटने तक प्रकाश बिखेरती है। हम दिवला, बाती और स्नेह का समग्र स्वरूप – सम्पूर्ण दीपक बनें।

अपने आपको प्रकाशित कर दूसरों को भी प्रकाशित करें। यही हमारी प्रकाश की उपासना, सविता के वरेण्य तेज की अर्चना और ज्ञान-ज्योति की आराधना है। हम अमृतपुत्र – **अमृतस्य पुत्राः** – हैं और दीपक-ज्योति को नमन हमारे जीवन का व्रत है।

❑❑❑

आचार्य रामानुज (२१)

स्वामी रामकृष्णानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अमेरिका से वापस लौटने पर चेनै की जनता ने उनसे अनुरोध किया कि उस प्राचीन नगरी में भी वे धर्मप्रचार शुरू करें। इसी के उत्तर मे उन्होने अपने गुरुभाई स्वामी रामकृष्णानन्द को वहाँ भेजा। वहाँ से उन्होंने बँगला मासिक 'उद्‌बोधन' के लिए श्री रामानुज के जीवन पर एक लेखमाला लिखी, जो बाद में पुस्तकाकार प्रकाशित हुई। यह उसी के हिन्दी अनुवाद की अगली कड़ी है। – सं.)

१८. यज्ञमूर्ति

यज्ञमूर्ति नामक एक दक्षिणी दिग्विजयी पण्डित आर्यावर्त का पर्यटन करते हुए वहाँ की पण्डित-मण्डली पर विजय प्राप्त करके स्वदेश लौटे। उन्होंने गंगाजी के तट पर संन्यास ले लिया था। उन्होंने जब सुना कि रामानुजाचार्य नाम के एक वैष्णव संन्यासी मायावाद का खण्डन करके अपने मत का प्रचार कर रहे हैं, तो वे अविलम्ब श्रीरंगम आ पहुँचे। पुस्तकों से भरी हुई एक गाड़ी भी उनके पीछे-पीछे आयी, क्योंकि पुस्तकों को साथ लिए बिना वे कहीं भी न जाते थे। यतिराज के सामने पहुँचकर उन्होंने तर्क की याचना की।

इस पर शान्तमूर्ति स्मित-विकसित-आनन श्री रामानुज ने कहा, "महात्मन्, तर्क की क्या आवश्यकता है? मैं आपके समक्ष पराजय स्वीकार करता हूँ। आप अद्वितीय पण्डित हैं; आपकी सर्वत्र जय हो।" इस पर यज्ञमूर्ति बोले, "यदि आपने अपने को परास्त स्वीकार कर लिया, तो क्या मैं समझ लूँ कि आपने भ्रान्त वैष्णव-मत को त्यागकर अभ्रान्त मायावाद ग्रहण कर लिया है?" यतिराज ने कहा, "मायावादी ही तो 'भ्रान्ति, भ्रान्ति' कहकर उन्मत्त हैं। उनके मतानुसार युक्ति-तर्क आदि सब कुछ माया है। अतएव मायावाद भला कैसे अभ्रान्त हो सकता है?" इस पर यज्ञमूर्ति बोले, "देश-काल-निमित्त के भीतर जो कुछ है, वह सब मायामय है; इसीलिए मायावादी कहते हैं कि इन तीनों का त्याग किये बिना कभी अभ्रान्त सत्य तक नहीं पहुँचा जा सकता। हम लोग जिसे भ्रम कहते है, उसी को आप लोग सत्य कहते हैं। अत: आपके स्थान पर हम कैसे भ्रान्त हुए?"

इस प्रकार वाद-विवाद आरम्भ हुआ और सत्रह दिनों तक चलता रहा। अन्तिम दिन श्री रामानुज की युक्तियों का यज्ञमूर्ति ने खण्डन कर दिया। यतिराज इस पर किंचित् दुखी होकर अपने मठ में लौटे और मठ के विग्रह श्री देवराज के सम्मुख हाथ जोड़कर बोले, "हे नाथ, पूर्वकाल के महानुभावगण जिन वैष्णव-शास्त्रो का अवलम्बन करके आपके श्री पादपद्मों का मकरन्द पान करने के अधिकारी हुए थे, कालक्रम से वे महान् शास्त्र मायावाद-रूपी मेघ से आच्छन्न हो गये है। मायावादी कूटयुक्ति के द्वारा स्वयं को तथा अज्ञानी जीवों को मोहित कर रहे हैं। उनका तर्कजाल ऐसी भ्रान्ति उत्पन्न करता है कि सात्विक महात्मागण भी कभी-कभी चमत्कृत हो उठते हैं। हे आनन्दधाम, और कब तक आप अपनी सन्तानों को अपनी पदछाया से दूर रखेंगे?" यह कहकर जीव-दुख-कातर यतिराज आँसू बहाने लगे। उसी रात स्वप्न में उन्हें देवराज का दर्शन मिला और उनकी यह आश्वासन-वाणी सुनाई पड़ी, "यतिराज, उद्विग्न मत होना। जगत् में शीघ्र ही तुम्हारे द्वारा भक्तियोग का सच्चा माहात्म्य घोषित होगा।"

प्रात:काल शय्या से उठने पर उनके आनन्द की सीमा न रही। इस अमृतमयी वाणी ने उनके हृदय की समस्त ग्लानि को दूर कर, उनके मुखमण्डल को एक स्वर्गीय आभा से मण्डित कर दिया था। प्रात:कृत्य समाप्त करके वे यज्ञमूर्ति के निवास पर गये। उनकी अलौकिक रूपछटा देखकर मायावादी स्तम्भित रह गये। उन्होंने सोचा, "कल तो श्री रामानुज उतरे हुए मुख के साथ अपने मठ को लौटे थे। परन्तु आज तो देखता हूँ कि वे एक स्वर्गीय देवता के समान यहाँ आये हैं। निश्चय ही ये दैवबल का आश्रय लेकर आये हैं। इनके साथ तर्क करना व्यर्थ है। ऐसे महापुरुष का शरणागत होना ही श्रेयस्कर है, क्योंकि बेकार का शुष्क तर्क करते हुए मैंने अपना पूरा जीवन बिता दिया है। इस प्रकार अहंकार को परिपुष्ट करके मैंने अपने चित्त की ग्लानि में ही वृद्धि की है। परन्तु इन महापुरुष का स्वभाव क्या ही निर्मल है! क्रोध, अहंकार, अभिमान आदि तो इनका स्पर्श तक नहीं कर पाते। मुख-मण्डल सर्वदा एक अनिर्वचनीय दिव्य कान्ति से उद्‌भासित रहता है। मैने इतने कटु वाक्यो का प्रयोग किया, लेकिन कभी इन्हें रुष्ट होते नहीं देखा। परन्तु इसी बीच मैं क्रोध तथा अभिमान से इतनी बार दग्ध हुआ हूँ कि उसकी गणना ही नहीं की जा सकती। मुझे धिक्कार है! ऐसा मलिन हृदय लेकर, ऐसे शुद्धचित्त देवतुल्य महापुरुष की बराबरी का प्रयास करना मेरी धृष्टता मात्र है। इनका शिष्यत्व स्वीकार करके मैं अपने इस पाप का प्रायश्चित्त करूँगा; अहंकार का समूल नाश करके पवित्रता-रूपी अमृत-पान करने का प्रयास करूँगा।"

ऐसा निश्चय करके भाग्यवान यज्ञमूर्ति ने भक्तिपूर्वक यतिराज के चरण-स्पर्श कर उन्हे प्रणाम किया। श्री रामानुज ने इस पर थोड़ा संकुचित होकर कहा, "यज्ञमूर्ति, आप महापण्डित होकर भी यह कैसा आचरण कर रहे हैं? आज तर्क प्रारम्भ करने में आप विलम्ब क्यो कर रहे हैं?" पण्डितवर ने विनम्रतापूर्वक उत्तर दिया, "महानुभाव, जो तर्कशास्त्री इतने दिनों से अपने

श्लेषपूर्ण उक्तियों द्वारा आपको विद्ध करने का वृथा प्रयास कर रहा था, मेरे पूर्वपुण्यों के फल से अब वह मेरे हृदय से प्रस्थान कर गया है; अत: अब कौन आपके समान महानुभाव के साथ वृथा तर्क करेगा? अब सामने आपका चिरदास खड़ा है, उस पर कृपादृष्टि कीजिए। मैं आपका शिष्य हूँ, अपने पुनीत उपदेश के द्वारा आप मेरे चिर-तमसाच्छन्न मन को पवित्रता के आलोक से उद्भासित कीजिए। **नायमात्मा प्रवचनेन लभ्य: न मेधया न बहुना श्रुतेन** – वृथा पाण्डित्य को प्रश्रय देकर मैंने अपने अहंकार को ही सबल किया है। हाय! मेरे समान मूर्ख और कौन होगा? आप इस अकिंचन दास को श्री चरणो मे आश्रय देकर कृतार्थ कीजिये।'' यज्ञमूर्ति में आये इस सहसा परिवर्तन को देखकर श्री रामानुज विस्मित नही हुए, क्योंकि वे स्वप्न मे कथित अपने इष्टदेव की वाणी का स्मरण कर समझ गये थे कि उन्ही की कृपा से इन दाम्भिक विद्वान् ने विनयभूषित होकर एक मनोहर देवतुल्य कान्ति प्राप्त की है।

मृदु-मधुर वाणी में उन्होंने कहा, ''धन्य है श्री देवराज! जिनकी कृपा से आज पाषाण भी द्रवीभूत हुआ। यज्ञमूर्ति, बाकी सारे अभिमान छोड़ना तो सहज है, परन्तु पाण्डित्य का अभिमान त्यागना मनुष्य की शक्ति के परे है। **विद्या ददाति विनयम्** – परन्तु वही विद्या यदि अविद्या के रूप में दम्भ एवं मद को जन्म दे, तो फिर मदोन्मत्त दाम्भिक हृदय में किसकी सहायता से विनय का प्रवेश हो सकता है? एकमात्र भगवान की कृपा ही इस असम्भव व्यापार को सम्भव बना सकती है। आज तुम उसी कृपा की शक्ति से मनुष्य के परम शत्रु अहंकार के हाथों से उद्धार पा सके हो। तुम्हारा सौभाग्य असीम है!'' यज्ञमूर्ति बोले, ''जब मुझे आपके समान महानुभाव का दर्शन मिला है, तो सचमुच ही मेरे सौभाग्य की क्या सीमा हो सकती है! अब आदेश दीजिए कि मुझे क्या करना होगा। मैं आपकी मूर्ख सन्तान हूँ।'' यतिराज ने कहा – यज्ञोपवीत धारण करना तुम्हारा परम कर्तव्य है, क्योंकि –

हीनो यज्ञोपवीतेन यदि स्यात् ज्ञानभिक्षुकः
तस्य क्रिया: निष्फला: स्यु: प्रायश्चित्तं विधीयते ।।
गायत्रीसहितानेव प्राजापत्यान् षडाचरेत् ।
पुन: संस्कारमाहृत्य धार्यं यज्ञोपवीतकम् ।।
उपवीतं त्रिदण्डञ्च पात्रं जलपवित्रकम् ।
कौपिनं कटिसूत्रञ्च न त्याज्यं यावदायुषम् ।।[१]

– अर्थात् ''वत्स, ज्ञान का आकांक्षी यदि यज्ञोपवीत से रहित हो, तो उसकी सारी क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं और उसके लिए प्रायश्चित्त का विधान है। यज्ञोपवीत पाने के बाद उसे छह दिनो तक गायत्री सहित विधिपूर्वक प्राजापत्य नामक तप करना चाहिए। यज्ञोपवीत, त्रिदण्ड, कमण्डलु, जल छानने की साफी, कौपीन तथा कटिसूत्र को आजीवन नहीं त्यागना चाहिए।''

यज्ञमूर्ति ने इस पर तत्काल स्वीकृति दी। उन्होंने यथाविधि उपवीत धारण किया, बाद में यतिराज ने उन्हें ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण कराकर शंख-चक्र से चिह्नित किया और देवराज की कृपा से चैतन्यलाभ होने के कारण उन्हें देवराज मुनि की आख्या प्रदान की। इसके उपरान्त वे बोले, ''वत्स, अब तुम्हारा अतुल पाण्डित्य अभिमान-मेघ से मुक्त होकर परम शोभायमान हो रहा है। तुम सदुपदेशपूर्ण ग्रन्थों की रचना करते हुए स्वयं को लोगों के हितसाधन में लगा दो।'' गुरु के आदेशानुसार यज्ञमूर्ति ने तमिल भाषा में 'ज्ञानसार' तथा 'प्रमेयसार' नामक दो ग्रन्थ लिखे और सबके प्रीतिभाजन हुए। श्री रामानुज ने उनके निवास हेतु एक विशाल मठ का निर्माण करा दिया।

इस घटना के कुछ दिनो बाद चार शान्त, दान्त, मेधावी तथा वैराग्यवान युवक श्री रामानुज के पास दीक्षा लेने आये। यतिराज बोले, ''तुम लोग देवराज मुनि के पास जाकर उन्हीं का शिष्यत्व ग्रहण करो। उनके समान महापण्डित पृथ्वी पर अत्यन्त विरल है। केवल पाण्डित्य ही उनका भूषण नहीं है, उनके समान भगवद्भक्ति-परायण व्यक्ति भी बड़े दुर्लभ हैं।''

तदनुसार वे चारो युवक जाकर देवराज मुनि के शिष्य हो गये। शिष्यों से आवृत होकर अपने को सौभाग्यवान मानना तो दूर, उन्होंने सोचा, ''यह कौन-सा नया झंझट आ खड़ा हुआ! कहाँ तो मैं बड़े कष्टपूर्वक अभिमान के हाथ से मुक्त होने का प्रयास कर रहा हूँ और उस पर 'मैं गुरु हूँ' यह अभिमान मुझे मोहित करने को आ पहुँचा है।'' इस प्रकार विचार करते हुए वे अपने गुरुदेव के चरणो में जा पहुँचे और अत्यन्त दीनतापूर्वक बोले, ''प्रभो, मैं आपकी सन्तान हूँ; तो फिर मेरे प्रति आपकी ऐसी निष्ठुरता क्यों है?'' यतिराज ने कहा, ''क्यो वत्स, क्या हुआ?'' देवराज मुनि बोले, ''पिता, आपकी कृपा से मुझे अभिमानरूपी राक्षस के हाथों से थोड़ा छुटकारा मिला है। अब पुन: क्यों आप इस निकम्मे आदमी को अभिमान के हाथों में फेंक रहे हैं? मुझे गुरु बनने का आदेश मत दीजिए। जल में पद्मपत्र के समान निर्लिप्तता अब भी मुझमें नही आ सकी है। अपना दास बनाकर आप मुझे अपने पास ही रखिए। मुझे नये मठ की आवश्यकता नहीं है।''

श्री रामानुज उनकी इस बात पर परम आनन्दित हुए और उन्हें प्रेमपूर्ण आलिंगन करते हुए बोले, ''वत्स, मैंने तुम्हारी परीक्षा लेने के लिए ही ऐसा किया है। तुम परीक्षा में उत्तीर्ण हुए हो। हे वैष्णव-शिरोमणि, तुम्हें शुद्धा भक्ति प्राप्त हो गयी है। तुम मेरे पास ही रहो और मठ के विग्रह श्री देवराज की सेवा करते हुए पूरा जीवन बिताओ।'' यह आदेश पाकर देवराज मुनि ने अपने को कृतकृत्य माना और श्रीमद्-देवराज की सेवा तथा श्री रामानुज का दासत्व करते हुए बाकी जीवन को सार्थक कर सबके लिए अनुकरणीय हो गये।

❖ (क्रमश:) ❖

१. बृहद्-जाबालि-स्मृति

भागवत-सार (१)

स्वामी रंगनाथानन्द

(प्रस्तुत लेख कलकत्ते के रामकृष्ण मिशन संस्कृति संस्थान मे महाराज द्वारा अप्रैल, १९९७ ई. में प्रदत्त एक अंग्रेजी व्याख्यान पर आधारित है। इसमे महाराज ने भागवत के आधार पर बताया है कि भगवान हर प्राणी के हृदय में निवास करते है और मनुष्य की सेवा ही ईश्वर की सच्ची उपासना है। उपरोक्त संस्थान के बुलेटिन से हिन्दी मे अनुवाद किया है स्वामी निर्विकारानन्द जी ने, जो इसी आश्रम के अन्तेवासी हैं। - सं.)

श्रीमद्‌भागवत सम्पूर्ण भारत में लोकप्रिय है और भक्ति पर उपलब्ध श्रेष्ठतम ग्रन्थो में से एक है। इसके पहले श्लोक के अन्त मे है - **सत्यं परं धीमहि** (१.१.१) - हम परम सत्य का ध्यान करते हैं। वह परम सत्य क्या है? श्लोक के प्रारम्भ में कहा गया है - **जन्माद्यस्य यत:** - जिससे इस ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई है, जिनमे यह स्थित है, और जिनमें इसका विलय होता है। उपनिषदो के अनुसार परम सत्य रूप शुद्ध चैतन्य-स्वरूप अद्वय ब्रह्म ही इसका उत्पत्ति-स्थान है। इसीलिए भागवत कहता है कि यदि यह सृष्टि उस परम सत्य (ब्रह्म) से उत्पन्न हुई है, तो असत् (मिथ्या) नहीं हो सकती। जब तक यह परम सत्य से जुड़ी है, तब तक सत् है। इस अर्थ का संकेत श्लोक की तीसरी पंक्ति के उत्तरार्ध **यत्र त्रिसर्गो-अमृषा** में मिलता है। यह संसार **अमृषा** है। मृषा का अर्थ है - मिथ्या और अमृषा का अर्थ है - जो मिथ्या न हो अर्थात् सत्। बहुत्व में एकत्व विद्यमान होने के कारण यह ब्रह्माण्ड असत् नही है। भारत के आध्यात्मिक जीवन में यह भक्तिमार्ग से सम्बन्धित एक अत्यन्त महत्वपूर्ण वक्तव्य है। यदि जगत् में दैवी गुण न हों, तो भक्तिमार्ग का पूर्ण विकास नहीं हो सकता। अत: भारत मे पहले **यत्र त्रिसर्गोऽमृषा** और फिर **सत्यं परं धीमहि** के द्वारा ये विचार व्यक्त हुए। यह वेदों के गायत्री मन्त्र के समान है। उसमे भी हमे **सत्यं परं धीमहि** - यह वाक्य मिलता है। अत: इस श्लोक को श्रीमद्‌भागवत का गायत्री-मंत्र कहा गया है।

भागवत का एक अन्य श्लोक है -

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं
शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिबत भागवतं रसमालयं
मुहुरहो रसिका भुवि भावुका: ।। १/१/३

इस श्लोक का प्रत्येक शब्द बड़ा मधुर है। श्लोक मे कहा गया है कि यह महान् भागवत **रसमालयम्** - रस का सागर है। रस भारतीय सौन्दर्यशास्त्र का एक बड़ा ही गूढ़ शब्द है, जो आनन्द के गुण का द्योतक है। कला, सौन्दर्य तथा किसी अन्य चीज की समालोचना **रस** के आधार पर की जाती हैं और इसका मूल्यांकन करने की क्षमता व्यक्ति को **रसिक** बनाती है। अत: यदि आप रसिक हैं, तो इस भागवत रूपी **रस** को ग्रहण कीजिए।

यह रस क्या है? **निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्** - वेदरूपी वृक्ष पर सुधारस से परिपूर्ण एक पका हुआ फल लगा था। एक पक्षी ने आकर उस फल को चखा और वह फल गिर पड़ा। यहाँ पक्षी शुकदेव जी हैं। शुक शब्द का अर्थ पक्षी होता है, परन्तु यहाँ इसका सम्बन्ध शुकदेव मुनि से है। इसके बाद आता है - **पिबत**। पिबत का अर्थ है - इस सुधारस का पान करते रहो। एक बार पीकर आपकी तृष्णा दूर नही होगी। अत: इसका आप बारम्बार पान कीजिए - **मुहुरहो**। और **भुवि भावुका:** - यदि आपमें रस को ग्रहण करने की क्षमता है, तो आप इस अद्‌भुत आनन्द-सागर का रस ले सकेंगे। यदि आप किसी नीरस व्यक्ति को कोई कविता सुनाएँ, तो वह उसका आस्वादन नही कर सकेगा। वैसे ही, जिनके हृदय में प्रेम है, वे लोग ही श्रीमद्‌भागवत रूपी प्रेम-सागर का रसास्वादन कर सकते हैं।

अब शुक का वर्णन आता है, जिन्होंने हमारे लिए यह भागवत उपलब्ध कराया।

य: स्वानुभावमखिल-श्रुतिसारमेकं
अध्यात्मदीपमतितितीर्षतां तमोऽन्धम्।
संसारिणां करुणयाऽऽह पुराणगुह्यं
तं व्याससूनुमुपयामि गुरुं मुनिनाम् ।। १/२/३

अन्तिम पंक्ति कहती है - मैं व्यास के उन महान् पुत्र मुनियों के गुरु शुकदेव की शरण लेता हूँ। क्यो? शुक ने ऐसा क्या किया? उन्होंने **स्वानुभव** - अपने अनन्त अनुभव तथा **श्रुतिसारम्** - सभी श्रुतियों के साररूप उपनिषदों के द्वारा **अध्यात्मदीपम्** - आध्यात्मिकता के प्रदीप को प्रज्वलित करके **संसारिणाम्** -उन संसारियो को दिया जो संसार में तो हैं, किन्तु इसमे रहना नही चाहते, इस फन्दे से मुक्त होना चाहते है। अत: **पुराण गुह्यं** - श्रेष्ठ पुराण श्रीमद्‌भागवत के रूप में यह जो दीप है, इसे शुकदेव ने **करुणया** - करुणावश दी है, धन्यवाद की अपेक्षा में नहीं।

शुकदेव की शिक्षाएँ

शुकदेव के सम्बन्ध मे कुछ और भी महत्वपूर्ण श्लोक हैं, क्योकि वस्तुत: पूरा भागवत ही तत्कालीन भारत के सम्राट् अर्जुन के पौत्र परीक्षित को श्री शुकदेव द्वारा दिये गये उपदेशों का संकलन है। सात दिनो बाद परीक्षित की मृत्यु होनेवाली थी और वे अनेक मुनियो के साथ गंगातट पर निवास कर रहे थे। तभी शुकदेव आते हैं और उन्हें भागवत-कथा सुनाते है। इसी के लिए शुक वहाँ आये थे। और दो-तीन श्लोको में इन शुकदेव मुनि के चरित का अत्यन्त रोचक वर्णन आता है।

यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं
द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव ।
पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदुः
तं सर्वभूतहृदयं मुनिमानतोऽस्मि ।। १/२/२

जब शुकदेव मात्र सोलह वर्ष के बालक ही थे, यज्ञोपवीत-संस्कार भी नहीं हुआ था, तभी वे गृहत्याग कर वन को चले गये। इस प्रकार पुत्र को जाते देखकर दुखी व्यासजी पुत्र, पुत्र – कहकर जोरों से पुकारते हुए शुकदेव के पीछे पीछे दौड़े। पेड़-पौधे भी उनके विलाप को प्रतिध्वनित करने लगे।

शुकदेव के सम्बन्ध में अगला श्लोक अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसमें कहा गया है –

तद्वीक्ष्य पृच्छति मुनौ जगदुस्तवास्ति
स्त्रीपुम्भिदा न तु सुतस्य विविक्तदृष्टे ।। १/४/५

जब शुकदेव वन से गुजर रहे थे, उस समय अनेक स्त्रियाँ दिगम्बर होकर तालाब में स्नान कर रही थी। उन स्त्रियों ने विवस्त्र तरुण शुकदेव की ओर देखा भी, पर उन्हें जरा भी लज्जा का बोध नहीं हुआ। क्षण भर बाद ही उन लोगों ने पूरे वस्त्र पहने व्यासजी को उधर आते देखा। और तत्काल ही सभी स्त्रियों ने जल से बाहर आकर वस्त्र धारण कर लिए। यह देख व्यासजी को बड़ा विस्मय हुआ। उन्होंने पूछा – नग्न युवक को देखकर तुम लोगों को लज्जा नहीं हुई और मुझ वृद्ध को देखकर तुम लज्जा का अनुभव कर रही हो ! ऐसा क्यों? इस पर स्त्रियों ने उत्तर दिया, "हे मुनिवर, आपको शरीरबोध है, किन्तु शुकदेवजी को शरीर का बोध नहीं है। अत: उनकी उपस्थिति में हमें भी शरीर बोध नहीं हुआ।"

प्रेम के लिए ही प्रेम

यह शुकदेव-चरित्र की एक अद्‌भुत व्याख्या है। श्रीरामकृष्ण देव को शुकदेव चरित्र अत्यन्त पसन्द था और वे कहा करते थे कि नरेन्द्र (स्वामी विवेकानन्द) उनके शुकदेव हैं। शुकदेव महान् थे। उन्हें परम भक्त क्यों कहना चाहिए? भागवत हमें इस प्रश्न का उत्तर देता है और साथ ही हमें उनकी भक्ति के स्वरूप से अवगत कराता है। यह एक अत्यन्त विशिष्ट प्रकार की, वस्तुत: सर्वोच्च प्रकार की भक्ति है, जिसमें केवल प्रेम के लिए ही प्रेम होता है। इसमें अन्य कोई भी हेतु नहीं होता।

आत्मरामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः।। १/७/१०

शुकदेव आत्माराम थे, सभी बन्धनों से मुक्त थे, आत्मा में ही उनकी प्रसन्नता थी एवं संसार की किसी भी अन्य वस्तु में उन्हें आनन्द नहीं मिलता था। आत्माराम – यह एक उपनिषद् का विचार है जो कि भागवत में भी प्रत्यर्पित है। **आत्मारामश्च मुनयो निर्ग्रन्थाः** – ये मुनीजन पूर्णत: सारे बन्धनों से मुक्त हैं और **अप्युरुक्रमे कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिं**। भगवान की भक्ति करते हैं। क्यों? उनकी भक्ति का स्वरूप क्या है? उनकी भक्ति एक विशेष प्रकार की भक्ति है – **अहैतुकीं भक्तिम्** – अकारण भक्ति। ऐसे भक्त कहते हैं – हे प्रभो, मैं तुमसे कुछ भी नहीं चाहता, बस प्रेम के लिए ही तुमसे प्रेम करता हूँ।

श्रीमद्‌भागवत हमें निम्नतम से लेकर उच्चतम प्रकार के प्रेम के बारे में बताती है। वस्तुत: प्रेम के अनेक प्रकार हो सकते हैं, परन्तु उसका सर्वोच्च रूप है – प्रेम के लिए प्रेम, और यह भागवत में दो पात्रों के दृष्टान्त द्वारा प्रदर्शित होता है। इनमें से एक हैं – शुकदेव और दूसरे हैं – प्रह्लाद। इस श्लोक में हम देखते हैं कि महामुनि शुकदेव सबके हृदय को आकृष्ट करनेवाले श्रीहरि की कथा का आख्यान कर रहे हैं। इस श्लोक से यही मूलभूत विचार हमें प्राप्त होता है कि श्रीहरि साधारण तथा असाधारण – सभी तरह के लोगों को आकृष्ट करते हैं।

अपनी आसन्न मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहे राजा परीक्षित के लिए गंगातट पर बने मण्डप में, शुकदेव ज्योहीं प्रवेश करते हैं, त्योहीं सभी उनके सम्मान में खड़े हो जाते हैं। शुकदेव यद्यपि सोलह वर्ष के तरुण थे, पर वे इतने पवित्र तथा ज्ञानी थे कि सभी लोग उनके प्रति श्रद्धाभाव रखते थे। वहाँ शुकदेव ने जो कथा कही, उसी को श्रीमद्‌भागवत कहते हैं।

कपिल के उपदेश

तीसरे स्कन्ध में एक अवतार की कथा है। इसमें भगवान कपिल के रूप में अवतरित होते हैं और घर छोड़कर वन जाना चाहते हैं। उनकी माता देवहूति कहती हैं, "पुत्र! वन जाने के पहले कृपा करके मुझे कुछ आध्यात्मिक उपदेश दो।" इसी के फलस्वरूप हम तृतीय स्कन्ध के उन्तीसवें अध्याय में सच्चे आध्यात्मिक जीवन की एक अद्‌भुत व्याख्या पाते हैं। तो भी, एक महान् सत्य जो पाठकों को बारम्बार आकृष्ट करता है, वह यह है कि ईश्वर केवल मन्दिर या मूर्ति में ही नहीं, बल्कि प्रत्येक मनुष्य के हृदय में पूजे जाने चाहिए। हृदय में क्यों? इसलिए कि वे सभी के हृदय में निवास करते हैं।

भारत में पिछले हजारों वर्षों से हम इस अद्‌भुत सत्य को भूले बैठे थे। हमने मानव की महानता को नकार दिया। वैसे हम सदा से ही मन्दिरों तथा मूर्तियों के पुजारी रहे, परन्तु हमने मनुष्यों की उपेक्षा की और सदियों तक विदेशी आक्रान्ताओं के दास बनकर रहे। परन्तु यहाँ कपिल का कथन है –

अहं सर्वषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा ।
तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम् ।। ३.२९.२१

– "मैं सभी प्राणियों के हृदय में आत्मारूप में स्थित हूँ पर फिर भी लोग मेरी उपेक्षा करते हैं एवं अनादर करते हैं और केवल प्रतिमा में ही मेरा पूजन करते हैं।" कितनी मूर्खतापूर्ण धारणा है यह ! इसीलिए वे बोले –

अहमुच्चावचैर्द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयानघे।
नैव तुष्येऽर्चितोऽर्चायां भूतग्रामावमानिनः।। ३.२९.२४

– "हे माता, जो लोग कर्मकाण्ड, अनुष्ठान आदि में बहुत-सा

धन व्यय करते हैं। मैं उनकी पूजा या दान से प्रसन्न नहीं होता। मैं उनकी पूजा ग्रहण नहीं करता।''

हम सदियों से इस उपदेश को भूले रहे। श्रीमद्भागवत का अध्ययन करते हुए भी हमने उसमें अन्तर्निहित तत्त्व को नहीं समझा। सत्ताइसवें श्लोक में कपिल मुनि कहते हैं –

अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम्।
अर्हयेद्दान-मानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा।। ३.२९.२७

तुम्हें **सर्वभूतेषु** सभी जीवों में **अर्हयेत्** का अर्थ है – अर्हना या अर्चना; मेरी पूजा करनी चाहिए, क्योंकि **मैं भूतात्मानम् –** उनकी आत्मा हूँ, **कृतालयम्** – मैंने पहले से ही उनके शरीर में मन्दिर बना लिया है। **अर्हयेत्** – अत: मेरी पूजा करो। पर मनुष्य में भगवान की पूजा कैसे की जाय? क्या हमें इसके लिए गली से जाते हुए मनुष्य को रोककर कहना होगा – भाई, जरा ठहरो, मैं तुम्हारी पूजा करना चाहता हूँ? यह सही तरीका नही है। तो फिर मनुष्य को कैसे पूजा जाय? सर्वप्रथम **दान** के द्वारा। यदि हो सके तो अभावग्रस्त लोगों की जरूरतों को पूरा करो; यदि वे अज्ञानी हैं, तो शिक्षा दो; यदि वे गरीब हैं, तो कुछ धन या जरूरी चीजें दो। यदि वे अशान्त है, तो उन्हें शान्ति प्रदान करो। यही दान है। और कुछ देते समय गर्व या उद्दण्डता के साथ नहीं, बल्कि सम्मान के साथ दो।

दो महत्वपूर्ण शब्द

इसके बाद दो महत्वपूर्ण शब्द और आते हैं – एक **मैत्र्या** और दूसरा **अभिन्नेन**। सर्वप्रथम आपको मित्रता विकसित करनी होगी। जब आप किसी भारतीय ग्राम में कार्य करने जाते हैं, तो लोग आपसे डरते हैं। ऐसा क्यों? क्योंकि सदा से उनका शोषण होता आया है और वे सोचते हैं कि ये पुन: हमारा शोषण करने आये हैं। अत: सर्वप्रथम आपको उनसे मित्रता करनी होगी और केवल तभी आप उनकी सही ढंग से सेवा कर सकते हैं और अन्त में एक महत्त्वपूर्ण शब्द आता है, जो कि वेदान्त, विशेषत: अद्वैत वेदान्त का सार है। वह है **अभिन्नेन** – अभिन्नता की वृत्ति – हम सब एक हैं। हम आपस में भिन्न नहीं हैं। क्या ही महान् अवधारणा है। उपनिषदों के काल से ही भारत ने **अभिन्नेन चक्षुषा** का प्रचार किया है, पर इस देश ने सदा ही **भिन्नेन चक्षुषा** को ही अपनाया है। सदियों से हम जातिवाद एवं हर तरह की मानवीय दासता के अभ्यस्त हैं। स्वामी विवेकानन्द ने भारत का भ्रमण किया और लोगों के दु:ख देखे। २० अगस्त, १८९३ ई. को अमेरिका से एक पत्र में वे आलासिंगा पेरुमल को लिखते हैं – ''पृथ्वी पर ऐसा कोई धर्म नही है, जो हिन्दू धर्म के समान इतने उच्च स्वर से मानवता के गौरव का उपदेश करता हो, और पृथ्वी पर ऐसा कोई धर्म नहीं है, जो हिन्दू धर्म के समान गरीबों एवं नीच जातियों का गला ऐसी क्रूरता से घोटता हो।''[१]

मद्रास में प्रदत्त 'भारत का भविष्य' शीर्षक अपने भाषण में स्वामी विवेकानन्द ने इस विषय पर प्रकाश डाला था। उन्होंने कहा था – ''आगामी पचास वर्षों के लिए यह जननी जन्मभूमि भारतमाता ही मानो हमारी आराध्य देवी बन जाय। तब तक के लिए हमारे मस्तिष्क से व्यर्थ के देवी-देवताओं के हट जाने में कुछ भी हानि नहीं है। अपना सारा ध्यान इसी एक ईश्वर पर लगाओ। हमारा देश ही हमारा जाग्रत देवता है। सर्वत्र उसके हाथ हैं, सर्वत्र उसके पैर हैं और सर्वत्र उसके कान हैं। समझ लो कि दूसरे देवी-देवता सो रहे हैं। जिन व्यर्थ के देवी-देवताओं को हम देख नहीं पाते, उनके पीछे तो हम बेकार दौड़ें और जिस विराट् देवता को हम अपने चारों ओर देख रहे हैं, उसकी पूजा ही न करें।''[२]

स्वामीजी ने हमें उन्हीं लोगों की 'पूजा' करने के लिए आह्वान किया है। किसी अन्य शब्द से काम नहीं चलेगा। 'सेवा' शब्द पर्याप्त नहीं है; पूजा ही उचित शब्द है। प्रत्येक मनुष्य ईश्वर हैं और मनुष्यों की सेवा ही सच्ची पूजा है। पूरा रामकृष्ण-विवेकानन्द दर्शन इसी सूत्र पर आधारित है। श्रीरामकृष्ण कहते थे – प्रत्येक जीव में शिव है और जीव की सेवा ही शिव की सेवा है। हमें भारत में यह महान् शिक्षा प्राप्त करनी है। हमारा दर्शन, हमारी आध्यात्मिकता का स्तर बड़ा ऊँचा है, परन्तु हमारे समाज का स्तर निम्न है। यहाँ मानव के सम्मान को प्राय: सर्वदा ही निम्न दर्जा मिला। इस आधुनिक युग में सामाजिक सम्बन्धों में आमूल परिवर्तन करने के लिए तथा समता की भावना पैदा करने के लिए स्वामी विवेकानन्द का आविर्भाव हुआ था। गीता में भी श्रीकृष्ण यही उपदेश देते हैं कि हम सब एक हैं। आज हमारा कोई राजा नहीं है, सम्राट् नहीं है, हम सब स्वतंत्र भारत के नागरिक हैं। हर व्यक्ति के पास मताधिकार है। हम सब समान हैं। इसी का नाम है – लोकतन्त्र। और हमारी आधुनिक राजनैतिक आकांक्षाएँ तथा प्रणालियाँ इसी शिक्षा के अनुरूप हैं। अत: यह महान् वेदान्तिक भाव – **अभिन्नेन चक्षुषा** – जाति, धर्म, सम्प्रदाय तथा सामाजिक स्तर से निरपेक्ष प्रत्येक मानव पर लागू होता है। प्रत्येक मानव में विद्यमान दिव्यता उपनिषदो की एक बेजोड़ खोज थी। बाद में यह विचार गीता, भागवत तथा अन्य धर्मग्रन्थों के माध्यम से विकसित हुआ। और वर्तमान युग में श्रीरामकृष्ण तथा स्वामी विवेकानन्द ने 'शिवज्ञान से जीवसेवा' का प्रचार करके इस विचार को एक नया आयाम प्रदान किया है। यही महान् विचार श्रीमद्भागवत के तीसरे स्कन्ध में प्राप्त होता है।

❖ (क्रमश:) ❖

१. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड १, पृ. ४०३
२. वही, खण्ड ५, पृ. १९३

स्वामी विवेकानन्द की धीरा-माता

प्रव्राजिका प्रबुद्धप्राणा

सारा चैपमैन बुल या धीरा माता के चरित्र की यह संक्षिप्त रूपरेखा रामकृष्ण सारदा मिशन, दिल्ली से प्रकाशित "Western Women in the Footsteps of Swami Vivekananda" नामक पुस्तक से साभार गृहीत तथा इन्दौर की सुश्री विजया श्रीखंडे द्वारा अनूदित हुई है । – सं.)

अमेरिका के एक मकान में एक सजीव चर्चा तथा हास्य-विनोद के दौरान किसी ने पूछा – 'सन्त किसे कहते है?' उत्तर के लिए पूरी टोली स्वामी विवेकानन्द की ओर ताकने लगी। सभी मौन धारण किये उनसे सन्त की परिभाषा जानने की प्रतीक्षा कर रहे थे। क्षण भर के बाद ही स्वामीजी ने शान्त स्वर में उत्तर दिया – 'श्रीमती ओली बुल' ।

श्रीमती बुल के जीवन पर चर्चा करके व्यक्ति समझ सकता है कि सन्त कैसे हुआ जा सकता है । दूसरे शब्दों में स्वामीजी श्रीमती बुल को सन्त मानते थे; उनकी धारणा थी कि वे बड़ी कठिन सामाजिक परिस्थितियों को सुलझा सकती हैं; उनमें सामाजिक नेतृत्व की क्षमता है, जो अपनी उदारता के द्वारा सात्त्विक आदर्श का प्रतिनिधित्व करती हैं; और नि:स्वार्थ, शान्त तथा अपने निर्णयो में वे हमेशा विवेकपूर्ण हैं ।

सारा बुल को स्वामीजी ने 'धीरा माता' नाम दिया था । इस स्थिर विवेक से युक्त उनके वात्सल्य का विस्तार स्वामीजी, उनके गुरुभाइयों, मित्रों, शिष्यों तथा अन्य ज्ञात एवं अज्ञात लोगों की ओर प्रसारित हुआ था। उन्होंने इन लोगों को निवास, नैतिक सहानुभूति एवं कार्य में आर्थिक सहायता दी । उनके उदार हृदय में सबके लिये क्षमा और मतभेदो में मेल-मिलाप कराने की क्षमता थी । उनका दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक और उच्च स्तर का होने के कारण ही यह सम्भव हुआ था।

१८९४ ई. में जब सारा बुल का स्वामीजी के साथ प्रथम परिचय हुआ, तब वे ४० वर्ष की थी । वे पिछले १४ वर्षो से विधवा थीं । पति की मृत्यु के ६ वर्ष बाद उन्हे बॉस्टन में मोहिनी मोहन चटर्जी से गीता प्राप्त हुई, जिसका उन्होंने अध्ययन किया था । गीता में निरूपित अमरत्व की वैज्ञानिक धारणा और धर्म में व्यक्तिगत स्वतंत्रता की वे प्रशंसक थी। श्रीमती बुल स्वामीजी के जीवन और कार्य में भूमिका निभाने के लिये पूरी तौर से तैयार थीं। उनकी माँ ने अपने घर को विस्कॉसिंग के उच्च वर्गीय समाज की गोष्ठी का केन्द्र बनाया था, जिसके लिए वे बड़े-बड़े निशाभोज, सायंकालीन बौद्धिक चर्चा, रंगमंच तथा संगीत के कार्यक्रमो का आयोजन किया करती थी । सारा सुशिक्षित और उन्नत सांस्कृतिक वातावरण में पली थीं और प्रारम्भ से ही उनका संगीत के प्रति प्रगाढ़ प्रेम था। १७ वर्ष की आयु में वे विश्वविख्यात वायलिन-वादक आली बुल का एक संगीत कार्यक्रम सुनकर उनसे प्रेम कर बैठी। नार्वे के ये राष्ट्रवादी उनसे ४० साल बड़े थे, तो भी उन्होंने उन्हे अपनाया और विवाह कर लिया। तदुपरान्त वे उनके साथ संगीत-कार्यक्रमो में जाया करतीं और प्राय: पियानो पर उनका संगत भी करती । उनमे परिपक्वता व कुशलता थी, जिसके द्वारा वे अपने भावुक व तुनकमिजाजी पति के कार्यक्रमों का आयोजन, सामाजिक जीवन तथा आर्थिक व्यवस्था देखतीं और निपुणता के साथ उनके एजेटों से निपटती ।

संगीत को समर्पित यह जोड़ी, सारा के परिवार, विशेषत: सारा की प्रभावशाली माता के हस्तक्षेप से बचने के लिये कुछ समय तक नार्वे मे रही । बाद में उन्होंने कैम्ब्रिज (मसाचुसेट्स) में अपना घर बनाया। युवा, बुद्धिमती, सम्मानित तथा दयालु सारा बुल ने अपनी माता की परम्परा के अनुसार अपने घर को संगीत तथा बौद्धिक समाज का केन्द्र बनाया। वहाँ जो लोग आते-जाते थे, उनमे थे – इरविंग बबिट, जूलिया वार्ड होवे, चार्ल्स. एस. पियर्स, एम्मा थर्सबी और युवा गर्ट्रुड स्टेन तथा हार्वर्ड विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के सदस्य। उन दिनों उत्कर्ष को प्राप्त दर्शन-विभाग को अपने इन कुछ सदस्यों पर गर्व था; यथा – विलियम जेम्स, जॉर्ज पामर, जोसिया रॉयस, ह्यूगो मंस्टर्बर्ग तथा जॉर्ज सान्तायन। विभिन्न मतों वाले ये प्राध्यापक सारा के घर एकत्र होते और समकालीन ज्वलन्त व विवादास्पद विषयों पर चर्चा करते । यह वही घर था, जिसमें १८९४ के अक्तूबर माह में उन्होंने स्वामी विवेकानन्द को आमंत्रित किया था। इस प्रथम भेंट के बाद ही ग्रीनएकर के धार्मिक सम्मेलनों में स्वामीजी के व्याख्यान आरम्भ हुए, जहाँ वे सात-आठ घण्टे बोलते थे । इस भेट के बाद श्रीमती बुल ने उपहार में स्वामीजी को पाँच सौ डालर का एक चेक दिया तथा साथ मे एक पत्र लिखा, जो उनके विगत अनुभवों पर आधारित उनकी व्यवहार-कुशलता दर्शाता है । वे लिखती हैं –

"आपकी उपस्थिति से यह भवन उच्च कार्यों के लिए उपयोगी बना । मेरे पति ने इस देश मे पचास साल तक कार्य करके अपना सर्वश्रेष्ठ अवदान दिया । आज यदि वे होते, तो उन्होंने निश्चय ही आपको और आपके आदर्शो को पसन्द किया होता । सौभाग्यवश मैं उनके कार्य में मार्ग-दर्शन और उनकी अन्तरात्मा पर मित्रों तथा शत्रुओं द्वारा होनेवाले प्रहार से उनकी रक्षा करना सीख गयी थी । मैं सोचती हूँ कि सभी कार्य एक ही है । मै आपको उनका पुत्र मानती हूँ और प्रतीक के रूप में यह राशि भेज रही हूँ । जब कभी आप इधर आयेंगे, तब मैं इसी भाव के साथ इस घर में आपका स्वागत-सत्कार करूँगी तथा आगामी वर्षों में मैं इतनी ही राशि आपको अर्पित करने की आशा करती हूँ और मैं अपेक्षा करूँगी कि इसे आप

अपनी तथा यथावसर अपने देशवासियों की सेवा में लगायें। आप जब भी चाहें, मैं इस चेक को बैंक-आर्डर में बदलवा दूँगी, ताकि आप कहीं भी बिना कठिनाई इसका उपयोग कर सकें। यदि आप चाहें तो मैं इसे छोटी राशियों में भी बदलवा सकती हूँ। और इसे लेकर भ्रमण करने की जगह, आपके हस्ताक्षर जरूरी होने के कारण वे अधिक सुरक्षित होंगे।"

श्रीमती बुल ने स्वामीजी को और भी अनेकों प्रकार से संरक्षण देने का प्रयास किया, जैसा कि वे अपने पति के लिए किया करती थी। जब कभी स्वामीजी किसी उग्र चर्चा में लिप्त हो जाते, तो वे उन्हें डाँट-फटकार कर मना कर देतीं, ताकि उनकी स्पष्टवादिता कहीं उनके कार्य को हानि न पहुँचाये।

दिसम्बर १८९४ में श्रीमती बुल ने एक व्याख्यान-शृंखला के लिये स्वामीजी को पुन: अपने अतिथि के रूप में आमंत्रित किया। इस व्याख्यान-माला को उन्होंने कैम्ब्रिज-सम्मेलन का नाम दिया। यह सम्मेलन उनके टीक-निर्मित मोहक सभा-भवन में आयोजित हुआ था। यहीं स्वामीजी की विलियम जेम्स से मित्रता हुई। सारा बुल ने ही स्वामीजी के साथ उनका परिचय कराया था। विलियम जेम्स स्वामीजी के बड़े प्रशंसक थे। उन्होंने स्वामीजी को अपने घर आमंत्रित किया और जब स्वामीजी न्यूयार्क में थे, तो उनसे मिलने वहाँ भी गये। स्वामीजी के साथ हुई चर्चा का जेम्स के विचारों पर काफी प्रभाव हुआ और और कहते हैं कि १९०१-०२ में प्रकाशित हुई उनकी Varieties of Religious Experiences तथा Psychology of Religion पुस्तकें इसी चर्चा का परिणाम थीं।

१८९६ के मार्च में स्वामीजी पुन: श्रीमती बुल के अतिथि हुए। वे वहाँ हार्वर्ड विश्वविद्यालय के छात्रो तथा प्राध्यापकों को सम्बोधित करने को आमंत्रित हुए थे। भाषण के उपरान्त उन्हें विश्वविद्यालय में प्राच्य-दर्शन के हार्वर्ड प्राध्यापक के पद का प्रस्ताव मिला, जिसे उन्होंने अस्वीकार कर दिया, पर अमेरिका के बौद्धिक जगत् पर यह उनकी महान् विजय थी। कुछ वर्ष पूर्व २१ दिसम्बर १८९४ को उन्होंने श्रीमती हेल को लिखा था, "यहाँ श्रीमती बुल तथा कुछ अन्य महिलाएँ सच्चे हृदयवाली एवं मेरे प्रति स्नेहशील हैं; ये मेरी सहायता करती हैं और साथ ही इनमे समाज का नेतृत्व करने की क्षमता भी है।"

पति की सेवा करते समय श्रीमती बुल को जो प्रबन्धकीय निपुणता प्राप्त हुई थी, वह अब अमेरिका की वेदान्त-समिति के कार्य में उपयोगी सिद्ध हुई। यह कार्य स्वामीजी ने उन्हें सौपा था। स्वामीजी की उन पर पूर्ण निर्भरता थी। उन्होंने ८ अक्तूबर १८९६ को श्रीमती बुल के नाम पत्र में लिखा है – "मैं बेहिचक कहता हूँ कि अमेरिका के सारे कार्य मे मेरा आप पर पूर्ण विश्वास है वहाँ के सारे कार्य मैं आपको सौपता हूँ।" श्रीमती बुल में दो विशेष अद्वितीय गुण थे, जिससे वे स्वामीजी की सेवा मे योग्यतम उपकरण सिद्ध हुई। पहला था, व्यावसायिक बुद्धि और दूसरा, किसी भी सामाजिक मतभेद में मेल-मिलाप कराने की कुशलता। उनके प्रथम गुण के कारण स्वामीजी ने उन्हें अपने पूरे कार्य का हिसाब-किताब और दूसरे गुण के कारण उन्हें अपने अमेरिकी कार्य का पूरा भार सौंप दिया था।

श्रीमती बुल का कार्य था अमेरिका की वेदान्त-समिति में होनेवाले व्याख्यानों तथा अन्य कार्यक्रमों की जानकारी देने हेतु सभी सदस्यों से सम्पर्क रखना। फिर वे ही समिति के आय-व्यय का लेखा रखतीं और सदस्यों के सम्मुख प्रस्तुत करतीं। स्वामीजी के व्याख्यानों के प्रकाशन तथा विक्रय-कार्य की वे मुख्य आधार थीं। वे व्याख्यानों के लिये सभागारों तथा उसके लिए आनेवाले संन्यासियों के रहने की व्यवस्था करतीं और फिर विवादों में मध्यस्थता भी करतीं।

न्यूयार्क के एक समाचार-पत्र के सामाजिक स्तम्भ में प्रकाशित विवरण के अनुसार श्रीमती ओली बुल 'स्वप्रिल तथा सुन्दर मुखमण्डल तथा काले केशोंवाली एक भद्र एवं मृदुभाषी महिला थीं।' पर शान्त एवं भव्य श्रीमती बुल के मातृसत्तात्मक व्यक्तित्व को शायद ही कभी चुनौती का सामना करना पड़ा हो। इसका कारण उनका निश्चयात्मक और स्थिर विवेक था। फिर भी नई-नई वेदान्त-समितियों का जन्म निर्विघ्न नहीं हो सका। इस आन्दोलन के प्रारम्भिक कुछ वर्षों के दौरान कई कठिन परिस्थितियाँ और गम्भीर मतभेद उत्पन्न हुए।

इन मतभेदो में सर्वप्रथम स्वामीजी तथा न्यूयार्क में साथ रहनेवाले उनके शिष्य लिओ लैड्सवर्ग के बीच गलतफहमी का था। लैड्सवर्ग को स्वामीजी ने १८९५ सहस्रद्वीपोद्यान में संन्यास तथा कृपानन्द नाम दिया था। उन्होने निश्चय ही सच्चे दिल से स्वामीजी की सेवा की। पर कुछ काल बाद उन्होंने ईर्ष्या तथा मनोमालिन्य से ग्रस्त होकर स्वामीजी की निर्ममतापूर्वक आलोचना की तथा संवादपत्र में लेख द्वारा उनकी हँसी उड़ाई। वे हर हफ्ते कम-से-कम एक बड़ा पत्र लिखकर अपने आचरण का समर्थन तथा स्वामीजी पर अकृतज्ञता का आरोप लगाते।

श्रीमती बुल ने उनके साथ तर्क किया – "आपको जिन शब्दों से आघात लगा, उसके बारे में तो आपने कहा, पर क्या हमारा जरा भी कर्तव्य नही कि हम केवल उनके महान् हृदय की मृदुता तथा उदारता को याद करें, जो प्रेम से ओत-प्रोत और ईश्वर तथा मनुष्य की सेवा मे समर्पित है। अन्त में लैड्सवर्ग ने २८ मई, १८९५ को श्रीमती बुल को लिखे पत्र मे स्वीकार किया – "केवल आप ही मेरे निर्दय आचरण के पीछे उस व्यक्ति को पाने मे सफल हुई, जो आपकी सहानुभूति और मित्रता के योग्य है।" जब वे अस्थायी रूप से ही सही, उन्हें सही रास्ते पर लाने मे समर्थ हो गयी, तब उन्होंने श्रीमती बुल को लिखा – "देखिये अपने उदार तथा नि:स्वार्थ प्रेम का परिणाम! इसने हाल की घटनाओ से मेरे हृदय मे उठ रहे तूफान को शान्त कर दिया, जिसने इसे जड़ से हिला दिया

था। इसने मुझे पुन: अपने गुरु के ही नहीं, वरन् ईश्वर के पास भी वापस ला दिया।'' २७ अक्तूबर, १८९५ को एक पत्र में लैंड्सवर्ग ने श्रीमती बुल को लिखा – ''अपने को पूर्ण बनाने के संघर्ष में आपके कृपापूर्ण शब्दों ने सदा की भाँति मुझे शक्ति दी। आपके पत्र हमेशा मेरे लिये शान्ति, आशा एवं विश्वास का संदेश लाते हैं और जब कभी मुक्ति के मार्ग में आनेवाली बाधाओं से मेरा मन कमजोर हो जाता है, तब मुझे शक्ति के साथ प्रेरणा देते हैं।'' श्रीमती बुल लैंड्सवर्ग को भी स्वामीजी के समान ही नियमितता के साथ धन भेजा करती थीं, परन्तु बाद में वे इस कार्य से अलग हो गये।

दूसरा और इससे भी अधिक बुरा तूफान इंग्लैंड में पनप रहा था। अमेरिका में श्रीमती बुल वेदान्त-समिति के प्रकाशन विभाग की प्रमुख थीं; दूसरे प्रमुख श्री फ्रांसिस लेगेट थे। न्यूयार्क की वेदान्त-समिति ने पारिश्रमिक देकर एक-के-बाद-एक कई स्टेनोग्राफर रखे, जब तक कि उन्हें मुफ्त सेवाएँ देनेवाले श्री गुडविन नहीं मिल गये। वे लोग स्वामीजी के भाषणों के प्रकाशनार्थ धन भी देते थे। इंग्लैंड के कार्यप्रमुख श्री स्टर्डी ने स्वामीजी के व्याख्यानों को स्वतंत्र रूप से मुद्रण कराया। इसके फलस्वरूप झगड़ा शुरू हुआ। स्टर्डी को लगा कि अमेरिका की समिति जो व्याख्यान मुद्रित कर रही है, उस कीमत पर इंग्लैंड के बहुत-से लोग उसे नहीं खरीद सकेंगे। वे उन्हें नि:शुल्क या अल्प मूल्य पर बाँटना चाहते थे, ताकि स्वामीजी का अधिक प्रचार हो और लोगों में रुचि पैदा हो और भविष्य में जब वे इंग्लैंड आयें, तो उनके व्याख्यान में अधिक मात्रा में श्रोता उपस्थित हो सकें। यह स्थिति तब और भी पेंचीदी बन गयी जब श्री विलियम जेम्स ने 'राजयोग' ग्रन्थ की भूमिका लिखी, जिससे अमेरिका में यह पुस्तक अधिक लोकप्रिय हो सकती थी, पर इंग्लैंड में उसकी कोई कीमत नहीं होती।

इंग्लैंड के कार्य में इतनी मेहनत करनेवाले स्टर्डी ही अब उसे नष्ट करने में लग गये। उन्होने स्वामीजी पर दोषारोपण किया कि वे श्रीमती बुल तथा मैक्लाउड द्वारा दी जानेवाली सुविधाओं व विलासिता में आबद्ध हो गये हैं। उन्होंने स्वामीजी के गुरुभाइयों पर भी आरोप लगाया कि उनमें तपस्या की कमी है। स्वामीजी ने २ सितम्बर, १८९९ को भगिनी क्रिस्टिन को लिखा – ''लगता है इंग्लैंड का कार्य चूर-चूर हो गया। वहाँ के सभी मित्र तथा स्टर्डी भी अस्थिर हैं। अस्तु, श्रीमती बुल और मैक्लाउड मेरी बहुत सबल मित्र हैं और वे हर हालत में मेरे साथ हैं।'' अनेकों पत्रों के आदान-प्रदान के बाद स्वामीजी ने नवम्बर १८९९ को पुन: श्री स्टर्डी को लिखा – ''श्रीमती बुल, मिस मैक्लाउड और श्री तथा श्रीमती लेगेट के बारे में आपसे कुछ कहने की जरूरत नहीं। मेरे प्रति उनका कितना स्नेह तथा कृपाभाव है, यह आप जानते हैं। श्रीमती बुल तथा मैक्लाउड तो हमारे देश भी जा चुकी हैं, वहाँ घूमी-फिरी और रही हैं, जैसा कि अभी तक किसी विदेशी ने नहीं किया और वहाँ का सब कुछ झेला है; पर ये न मुझे कोसती हैं, न मेरे ऐशो-आराम को। बल्कि यदि मैं अच्छा खाना चाहूँ या एक डॉलर वाला सिगार पीयूँ, तो वे खुश ही होंगी। और इन्हीं लेगेट तथा बुल परिवारों ने मुझे खाने को भोजन और तन ढँकने को वस्त्र दिया, जिनके पैसों से मैं धूम्रपान करता रहा और कई बार तो मैंने अपने मकान का किराया चुकता किया; जबकि मैं आपके देशवासियों के लिए मरता-खपता रहा।''

स्टर्डी को द्वेष तो था ही, साथ ही उन्हें शर्म भी महसूस हो रही थी कि वे परिवार में फँसे हुए हैं। उन्हें लगा कि वे बाल-बच्चों में फँसने की अपेक्षा अकेले ही अच्छे होते। वर्षों पहले वे भारत में साधुओ से मिले थे और कुछ काल तक साधक का जीवन भी बिताया था। वर्षों पूर्व वे जिस उदात्त एवं स्वतंत्र जीवन का आस्वादन कर चुके थे, उन्हें बोध हो रहा था कि अब वैसे सम्भव नही है। शुरू में स्टर्डी को लगा कि काश! वे स्वामीजी से अपने भारत-निवास के दिनों में ही मिले होते और उनके साथ संन्यासी बन गये होते। अब खुद को संसार में उलझा पाकर, उसका सारा दोष उन्होंने स्वामीजी पर डाला कि वे अपने पाश्चात्य अनुरागियों द्वारा दी गयी विलासिता में संलग्न हैं। बारम्बार पत्र लिखकर उन्होंने स्वामीजी के प्रति अपनी निराशा व कटुता व्यक्त की। बाद में उन्होंने स्वामीजी पर दोष लगाया कि वे वेदान्त-समिति का धन स्वयं पर खर्च करते हैं। श्रीमती बुल ने पत्र द्वारा स्टर्डी को आश्वस्त किया कि स्वामीजी कभी इंग्लैंड की समिति के धन को स्वयं पर खर्च नहीं करते, न करेंगे और न उन्हें अपने या अन्य संन्यासियों की यात्रा के लिए उस धन की जरूरत है। स्वामीजी तथा स्टर्डी दोनों ने ही अपनी-अपनी शिकायतें श्रीमती बुल को पत्र द्वारा लिखीं। श्रीमती बुल एक माँ की तरह अपने बेटों को सन्तोष देने का प्रयास करतीं। निवेदिता ने इन पत्रों के कुछ अंशों को पढ़कर मिस मैक्लाउड को लिखा – ''श्रीमती बुल का मातृत्व कितना अद्भुत है! मैने कल एक-एक शब्द उनसे सुना और विस्मित हो गयी। वे एक बहुत महान् महिला हैं। स्वामीजी ने सच ही कहा कि शायद वे सबसे महान् हैं।''

१८९६ में स्वामीजी की अनुपस्थिति में स्वामी सारदानन्द जी को अमेरिका में व्याख्यान देने के लिये भेजा गया, तो वे भी न्यूयार्क तथा बॉस्टन के भक्तों की खींचा-तानी में उलझ गये। स्वामीजी ने श्रीमती बुल को कार्यक्रम इस तरह आयोजित करने को कहा, ताकि वे दोनों स्थानों पर व्याख्यान दे सकें। फिर स्वामी अभेदानन्द जी को लेकर न्यूयार्क में गड़बड़ी हुई और वह श्री लेगेट के न्यूयार्क वेदान्त-समिति के अध्यक्ष पद से हटने पर समाप्त हुई। अभेदानन्द जी ने स्वामी विवेकानन्द को लिखा कि श्रीमती बुल मिशन के विरुद्ध कार्य कर रही हैं। स्वामीजी ने तत्काल श्रीमती बुल के पक्ष में लिखा। यद्यपि

श्रीमती बुल ने अमेरिका के सारे कार्य को केन्द्रित करने की चेष्टा की, तथापि हर वेदान्त-समिति अपनी-अपनी स्थानीय जरूरत के अनुसार परिचालित होने लगी। इस प्रकार स्वामीजी के अमेरिकी-कार्य के प्रथम कुछ वर्ष बीते। इन सब में श्रीमती बुल स्थिरता तथा सन्तुलन बनाये रखनेवाली माता बनी रहीं।

स्वामीजी ने कहा कि 'जीवन में मेरी सबसे बड़ी चिन्ता धन सँभालने को लेकर थी।' १८९७ में जब स्वामीजी भारत लौटे, तब अपने पास के सारे धन तथा मठ-कोष का दायित्व उन्होंने स्वामी ब्रह्मानन्द को सौंपा। ब्रह्मानन्द जी को अधिकार था कि स्वामीजी की अनुपस्थिति में भूमि खरीदने हेतु बैंक से रुपये निकाल सकें। पर अन्तिम रूप से उन्होंने रुपये-पैसे की सारी जिम्मेदारी श्रीमती बुल के हाथों में ही दी। १० अगस्त, १८९९ को स्वामीजी ने ब्रह्मानन्द को लिखा – "श्रीमती बुल को हिसाब भेज देना – जमीन, मकान तथा भोजन इत्यादि पर कितना खर्च हुआ है, प्रत्येक विषय का विवरण पृथक्-पृथक् हो। ... हर खर्च के लिए समिति की स्वीकृति प्राप्त कर लेना, नहीं तो तुम्हें बदनामी मोल लेनी पड़ेगी। जो लोग रुपये देते हैं, वे एक-न-एक दिन हिसाब अवश्य जानना चाहेंगे – ऐसी ही रीति है। सर्वदा हिसाब तैयार न रखना बड़ी खराब बात है।" २१ नवम्बर को उन्होंने पुन: ब्रह्मानन्द जी को लिखा – "हिसाब ठीक है। मैंने उसे श्रीमती बुल को सौंप दिया है और उन्होंने उसे सभी दानदाताओं को सूचित करने का भार लिया है।" इसके तुरन्त बाद नवम्बर १८९९ को स्वामी सारदानन्द ने श्रीमती बुल के साथ लेखा के सम्बन्ध में पत्र-व्यवहार करते हुए लिखा – "मुझे यह कहने की जरूरत नहीं कि श्रीरामकृष्ण आपको आशीर्वाद दें। माँ, स्वामीजी तथा हम सबकी मदद करने का, पश्चिम में इस कार्य की प्रतिष्ठा को बनाये रखने और सार्वजनिक पैसे का हिसाब रखने में स्वामीजी की मदद करने का जो रास्ता आपके लिये खोला गया है, उससे स्पष्ट है कि आप श्रीरामकृष्ण द्वारा चुनी गयी हैं और उनके कार्य की नींव हैं। प्यारी दादी माँ, मैं आपको आशीर्वाद देता हूँ!"

स्वामीजी की धन-विषयक समस्या दिन-पर-दिन बढ़ती जा रही थी। एक ओर जहाँ स्वामीजी नयी संस्था के लिए धन की व्यवस्था में लगे थे, वहीं दूसरी ओर अन्य लोग हर तरफ से उनसे लाभ उठाने का प्रयास कर रहे थे। खेतड़ी-नरेश ने उनकी माँ के लिये मकान खरीदने हेतु कुछ रुपये दिये थे, पर उनके करीबी रिश्तेदार यह सोचकर कि स्वामीजी साधु हैं, कोर्ट में मुकदमा नहीं करेंगे, उसे हड़पना चाह रहे थे। अन्तत: उन्हें मुकदमा करना पड़ा। भारत में मठ का मुख्यालय बनाने के लिए जो भूमि खरीदी गयी थी, उसके बारे में १२ दिसम्बर १८९९ को उन्होंने श्रीमती बुल के नाम एक पत्र में लिखा – "(बेलूड़) नगरपालिका हम लोगों से कर वसूलना चाहती है। ... मुझे आशा है कि रु. १५,००० एकत्र हो जायेंगे, जिससे रु. ५०,००० पूरे हो जायेंगे। फिर इसको जन-सम्पत्ति करार दे देने से नगरपालिका के कर से मुक्ति मिल जायेगी।" इस ट्रस्ट-डीड में वे श्रीमती बुल को रखना चाहते थे, जैसा कि स्वामीजी ने १७ जनवरी, १९०० को उन्हें लिखा – "मैं आप, सारदानन्द तथा ब्रह्मानन्द के नाम से मठ का ट्रस्ट-डीड कर देना चाहता हूँ। ज्योंही सारदानन्द के पास से कागजात मेरे पास आ जायेंगे, मैं यह कर दूँगा। तब मुझे छुट्टी मिलेगी। मैं विश्राम चाहता हूँ।" परन्तु जब ट्रस्ट-डीड का पंजीकरण हुआ, तब उसमें उनका नाम नहीं था। यह निर्णय बहुमत का था। स्वामीजी ने स्वयं को अलग रखते हुए, उसके सम्बन्ध में आगे कोई निर्णय नहीं लिया। वे अपना नेतृत्व छोड़ रहे थे। पर एक विषय में वे काफी रुष्ट हो गये और अपने गुरुभाइयों पर नाराज होकर उनके निर्णय को अस्वीकार कर दिया। श्रीमती बुल ने स्वामीजी के कठोर व्यवहार का विरोध किया। स्वामीजी ने उन्हें कहा – "आप ठीक कहती हैं, मैं सचमुच कठोर हो गया हूँ। वे कहते हैं, मैं भावुक हूँ, पर परिस्थितियों को देखिए।" वे आगे लिखते हैं –"जो और मार्गरेट महान् आत्माएँ हैं, परन्तु मेरे मार्गदर्शन हेतु माँ आपके माध्यम से प्रकाश भेज रही हैं। क्या आप प्रकाश देख रही हैं? आपकी क्या सलाह है?" १७ दिसम्बर, १८९९ को स्वामीजी लिखते हैं – "मुझे कुछ परिष्कृत मस्तिष्कवाले व्यक्तियों की जरूरत है, जो उद्यम से कार्य करने के साथ-ही-साथ मेरे आनुषंगिक समस्त विषयों का भार ले सकें, ताकि मैं अपने कार्यों में आगे बढ़ता रहूँ। मुझे भय है कि भारत में ऐसे लोगों की खोज में काफी समय नष्ट होगा; और यहाँ यदि वे प्राप्त भी हों, तो उन्हें किसी पश्चिमवासी से शिक्षा लेना ठीक होगा।"

१९०० के मध्य तक पश्चिम में स्वामीजी का कार्य समाप्त हुआ और वे अपना भारत का कार्य भी समेटने में लग गये। श्रीमती बुल के कागजों में उनके वसीयतनामे की एक प्रति मिली, परन्तु कानूनी कठिनाइयों के कारण वह क्रियान्वित नहीं हो सकी। उस वसीयत के अनुसार उन्होंने अपनी पूरी सम्पत्ति पाँच लोगों के हाथों में समान रूप से सौंपी, जिन्हें इसका उपयोग धार्मिक कार्यों तथा श्रीरामकृष्ण के उपदेशों के रूपायन में करना था। ये पाँच थे – उनके गुरुभाई स्वामी ब्रह्मानन्द तथा स्वामी सारदानन्द, उनकी मानस-कन्या भगिनी निवेदिता, उनके महान् संरक्षक फ्रांसिस लेगेट और श्रीमती ओली बुल।

१८९८ ई. में श्रीमती बुल भारत आयीं। वे बेलूड़ मठ के नयी भूमि के प्रथम निवासियों में से एक थीं। उन्होंने जीर्ण घर की तत्काल मरम्मत कराकर उसे नये समानों से सजाया। भगिनी निवेदिता तथा मैक्लाउड उनकी अतिथि बनकर उनके साथ ६ सप्ताह रहीं। स्वामीजी ने भगिनी निवेदिता से कहा – "धीरा माता का यह छोटा-सा घर तुम्हें स्वर्ग-सा प्रतीत होगा, क्योंकि उसमें शुरू से अन्त तक प्रेम-ही-प्रेम है।" ११ मई

से वे लोग श्रीमती बुल के अतिथि बनकर अपने गुरु तथा पथ-प्रदर्शक के साथ उत्तर भारत और कश्मीर की पाँच महीने की अद्‌भुत यात्रा पर थे। यात्रा के दौरान स्वामीजी उन्हें भारत के बारे में शिक्षा देते रहे और अपने पुरुषों के मठ सम्बन्धी योजनाओं से अवगत कराते रहे। उससे भी बड़ी जिम्मेदारी महिलाओ के कार्य के लिये बताते रहे, जो निवेदिता कलकत्ता वापस आकर आरम्भ करनेवाली थी। श्रीमती बुल ने इन दोनों योजनाओं में उदारतापूर्वक सहायता दी। उन्होंने बेलूड़ मठ में साधु-निवास, मन्दिर-निर्माण और भगिनी निवेदिता के कार्य में महती दान-राशि प्रदान की, जो उनके स्कूल के लिये एक प्रमुख आधार हुई। श्रीमती बुल के मरणोपरान्त endowment fund बनाया गया। भगिनी निवेदिता ने १९०० में अपने कार्य में योगदान हेतु अमेरिका में रामकृष्ण-सहायता-संघ की स्थापना की थी, श्रीमती बुल उसकी राष्ट्रीय सचिव रहीं।

श्रीमती बुल के भारत से विदा हो जाने पर स्वामीजी ने निवेदिता से कहा – "यदि श्रीमती बुल तथा मैक्लाउड लौटकर भारत में रहने लगें, तो लोग उनसे प्रेरणा पायेंगे। पवित्रता का वह स्पर्श .... उनका मधुर और कृपालु व्यवहार पाने के लिये, कृपालु मन और महान् आत्मा का होना आवश्यक है।" १८९८ ई. के अन्त में जब श्रीमती बुल भारत से प्रस्थान कर रही थीं, तो स्वामीजी ने उन्हें लिखा – "अब तक मुझे आपके प्रति केवल प्रेम ही था, पर वर्तमान घटनाओं से ऐसा प्रतीत हो रहा है कि महामाया ने आपको मेरी दिनचर्या पर दृष्टि रखने के लिए नियुक्त किया है; अत: प्रेम के साथ ही प्रगाढ़ श्रद्धा भी हो गयी है। इसके आगे मैं अपने जीवन तथा कार्यप्रणाली के बारे में सोचूँगा कि आप माँ से प्रेरित हैं, अत: मेरे कन्धे से सारा उत्तरदायित्व हटाकर महामाया आपके द्वारा जो निर्देश देंगी, उसी को मैं मानता रहूँगा।"

जब स्वामीजी पुन: अमेरिका गये, तब उन्होंने वहाँ अपना कार्य संचालित करने के लिये उन्हें विशेष शक्ति प्रदान की। रविवार, ११ नवम्बर, १८९९ को दोपहर के समय जब स्वामीजी रिजले मैनर से प्रस्थान करने के लिए अपना सामान बाँध रहे थे, उन्होंने श्रीमती बुल के लिये दो गेरुए वस्त्र निकाले। पत्र द्वारा निवेदिता ने मिस मैक्लाउड को इसका वर्णन भेजा था – "उन्होंने मुझे मेरे कमरे में बुलाया, जहाँ श्रीमती बुल बैठी हुई लिख रही थीं। उसे प्रदान करने के पूर्व उन्होंने द्वार बन्द किये और उस वस्त्र का स्कर्ट तथा चादर जैसा बनाकर श्रीमती बुल को उससे आवृत्त करके उन्हें संन्यासिनी के रूप में सम्बोधित किया और अपना एक हाथ उनके तथा दूसरा मेरे सिर पर रखते हुए कहा – "मैं तुम्हें वह सब दे रहा हूँ, जो मुझे रामकृष्ण परमहंस ने दिया था। जो मुझे एक नारी से प्राप्त हुआ, ... वह मैं तुम दो नारियों को सौंपता हूँ। तुम इससे जो भी हो सके, करना। अब मुझे स्वयं पर विश्वास नहीं है कि कल मैं क्या करके काम बिगाड़ बैठूँगा। मुझे माँ से – एक नारी से जो मिला है, उसे धारण करने को नारियाँ ही सर्वाधिक उपयुक्त होंगी। वे कौन हैं, क्या हैं? – नहीं जानता। मैंने उन्हें कभी देखा नहीं; परन्तु रामकृष्ण परमहंस ने उन्हें देखा और स्पर्श किया था। अस्तु, मैं यह भार आपको सौंपता हूँ और शान्ति में रहने जा रहा हूँ। अब तक मैं इसे वहन करता रहा और अब मैने इसे त्याग दिया है।" १२ अप्रैल, १९०० को उन्होंने श्रीमती बुल को लिखा – "माँ की इच्छा पूर्ण होगी। उनकी शक्ति आप में है। मेरा विश्वास है कि जो कुछ उचित है, वे आपसे वैसा ही करायेंगी।"

श्रीमती बुल से परिचय होने के बाद ही स्वामीजी ने उन्हें लिखा – "श्रीरामकृष्ण की कृपा से किसी व्यक्ति का चेहरा देखते ही मैं अपने सहज बोध से तत्काल ही भाँप लेता हूँ कि वह कैसा है और मेरी धारणा प्राय: ठीक ही होती है। इसका परिणाम यह हुआ है कि आप अपनी इच्छानुसार मेरे विषय में चाहे जो कर सकती हैं और मैं कभी शिकायत नहीं करूँगा, ... इसलिए नहीं कि आप मेरी सहायता कर रही हैं, बल्कि मैं अपने सहज बोध (या अपने गुरुदेव की प्रेरणा) से आपको अपनी माँ मानता हूँ और आप मुझे जो भी सलाह देंगी, मैं सदा उसका पालन करूँगा।" श्रीमती बुल ने सदा स्वामीजी के गुरुभाइयों और शिष्यों का सत्कार तथा सहायता की थी।

१८९७ में तीन महीने स्वामी सारदानन्द श्रीमती बुल के अतिथि रहे। उन्होंने अपने सुदीर्घ पत्र-व्यवहार में उन्हें एक मित्र तथा माँ के रूप में देखा और उन्हें दादी-माँ के रूप में सम्बोधित किया था। न्यूयार्क से एक पत्र में वे लिखते हैं – "आपने मेरे लिये शारीरिक या आध्यात्मिक रूप से जो कुछ किया, उसके लिये बहुत धन्यवाद। मैं स्वीकार करता हूँ कि आध्यात्मिक दृष्टि से मुझे और वहाँ के सबको आपसे काफी मदद मिली।" भारत लौटकर उन्होंने कलकत्ते के उद्‌बोधन-भवन में माँ श्री सारदादेवी, उनके परिवार तथा चार-पाँच अन्य संन्यासियों का भार सँभाला। इन लोगों की व्यवस्था के लिए चिन्तित होकर जब उन्होंने सहायता हेतु श्रीमती बुल को लिखा, तो उन्होंने अविलम्ब २५० रुपये प्रति माह भिजवाने की व्यवस्था की। श्रीमती बुल की भी माँ-सारदा के प्रति भक्ति थी। संघ के सभी मन्दिरों में आज पूजी जानेवाली माँ की ध्यान-मुद्रा की तस्वीर को उन्होंने ही खिचवाया था। निवेदिता भी कई बार उनकी अतिथि रहीं। ११ अगस्त, १९१० को निवेदिता ने उन्हें लिखा – "प्रिय संत सारा! आप कहती हैं कि मुझे आपका घर अपना ही मानना चाहिये, मुझे सोचकर लज्जा आती है कि मैंने हमेशा ही आपके घर को अपना ही माना है।" भारत में अपना कार्य शुरू करने के पूर्व १९०१ में विश्राम हेतु निवेदिता नार्वे में श्रीमती बुल के घर में थीं। पुन: श्रीमती बुल ने निवेदिता को ब्रिटेन के अपने घर में

आमंत्रित किया। उस समय पेरिस में स्वामीजी की अपने प्रति बाह्य उपेक्षा-भाव से वे दु:खी थीं। इसके बाद श्रीमती बुल ने उन्हें असीसी में आमंत्रित करके वहीं रहकर स्वामीजी की जीवनी लिखने को कहा। जब निवेदिता यह पुस्तक लिख रही थीं, तब उन्होंने उनकी आर्थिक सहायता भी की। उन्होंने १२ जून, १९०५ को निवेदिता को लिखा –

"अपने व्यक्तिगत खर्च के लिये यह १०० पौंड का चेक स्वीकार करो। मेरा स्वप्न था कि स्वामीजी को किसी दिन लेखन-कार्य के लिये अनुकूल शान्ति, पुस्तकें एवं परिस्थितियाँ मिलेंगी। क्या मैं तुम्हारे लिये ऐसी व्यवस्था करने की चेष्टा करूँ और साथ ही यह महसूस करूँ कि इससे तुम्हारे लेखन-कार्य में जो निपुणता आयेगी, उसके द्वारा तुमने इसे अर्जित किया है? निवेदिता ने श्रीमती बुल को २ फरवरी १९१० को लिखा – "मैं आपके स्नेह तथा स्वीकृति के लिये हृदय से आभारी हूँ। मेरे लेखन-कार्य में सहयोग देने में आप कभी पीछे नहीं हटीं। आपने मुझे कितनी ठोस मदद की है! क्या मैं कभी उन महीनों को भूल सकती हूँ, जो मुझे प्रकाशक ढूढ़ने में लगे!" वर्ष भर बाद निवेदिता ने 'मार्डर्न रिव्यू' में लिखा –

"श्रीमती ओली बुल अपार दानी थीं। उनकी भेंट हमेशा गुप्त, सतत तथा न्यायपूर्ण होती थी, और वह उनके अपने लोगों के अधिकार को कभी भूलती नहीं थी। यदि ये दान किसी प्रसिद्धि की चाह से प्रेरित होते, तो उसे पाना दानदाता के लिये बहुत सहज था। सच्चाई तो यह है कि उनकी व्यापक उदारता का विस्तार कहाँ तक है, कोई नहीं जानता था और न किसी को कोई सन्देह ही था। जिसकी मदद की जाती थी, उसके चरित्र और परिस्थितियों का उन्हें व्यक्तिगत रूप से ज्ञान होता था। उनमें यह दुर्लभ तथा सुन्दर प्रतिभा थी, जो अपनी दयालुता से भेंट पानेवाले को उसी की दृष्टि में उदात्त बना देती थी; क्योंकि वे जानती थीं कि कैसे किसी को लगन के साथ आदर और प्रोत्साहन दिया जाय। उनकी उदारता हमेशा समान गुप्तता और सावधानी के साथ, बड़ी या छोटी चीजों के लिये व्यक्ति की जरूरतों को ध्यान में रखकर प्रकट होती थी। वे महान् व्यक्तियों को सदा उनके विचारों के परिप्रेक्ष्य में देखती और उन पर वात्सल्यपूर्ण कुशलता का उपयोग करतीं। वे उनकी आपदाओं और बीमारी में, मनोवेदना को भुलाने और उनमें नयी आशा का संचार करने के लिये उन्हें वात्सल्यपूर्ण कुशलता के साथ कभी छुट्टी मनाने को आमंत्रित करतीं, किसी यात्रा पर ले जातीं या कोई उपहार प्रदान करती थीं। कभी-कभी ऐसे व्यक्तियों के लिये, जिनसे उनकी बौद्धिक अनुरूपता समान्य थी, उनकी निजी तौर पर मदद करने का औचित्य सिद्ध करने के लिये वे कहतीं कि ऐसे व्यक्ति को हम खोना नहीं चाहते। किसी के सम्पर्क से स्वयं को कितना आनन्द मिलता है, इससे अधिक वह व्यक्ति समाज के लिये कितना उपयोगी है, इस बात पर उनका ध्यान अधिक रहता था। किसी भी देश का कोई भी डॉक्टर, पत्रकार, कलाकार या संघर्षरत शिक्षक उनके उदार दूरदर्शिता का पात्र बन सकता था और उसकी आपूर्ति लोकमाता (श्रीमती बुल) के भण्डार से ऐसे होती थी, मानो उसकी कुंजी उसके पास हो। उनका दान नि:शर्त होता था। उनसे अधिक धनवान व्यक्ति स्वामीजी में रुचि रखते थे, पर उनके जैसे उत्तरदायित्व का बोध, उनके समान सेवा की क्षमता तथा जिनके प्रति आदर है, उन्हें संरक्षण देने का भाव किसी अन्य में नहीं था। अत: स्वामीजी को अपने कार्य हेतु एक माँ या उससे भी अधिक मिली थी।"

भगिनी निवेदिता और मिस मैक्लाउड सारा बुल को हमेशा 'सन्त सारा' के नाम से सम्बोधित करतीं और पत्र-व्यवहार में भी वही लिखतीं। जब स्वामीजी की संन्यासी शिष्या अभयानन्द को धन की आवश्यकता थी, तो श्रीमती बुल ने उन्हें कुछ दिनों के लिये कैम्ब्रिज में आमंत्रित किया। स्वामीजी की सलाह पर उन्होंने भगिनी क्रिस्टिन को भी कैम्ब्रिज में अतिथि के रूप में आमंत्रित किया, जबकि तब वे उनसे परिचित भी न थीं। स्वामीजी ने क्रिस्टिन को लिखा – "कैम्ब्रिज में श्रीमती बुल के पास अलग जगह है, उनका स्टूडियो-भवन, तुम्हें वहाँ कमरे मिल जायेंगे। मैं चाहता हूँ कि तुम श्रीमती बुल से मिलो। वे सन्त हैं – यदि कोई संच्चे सन्त हुए हैं, तो वे भी हैं।" पुन: २७ दिसम्बर, १८९९ को स्वामीजी ने क्रिस्टिन को श्रीमती बुल के पते पर लिखा – "वे एक महीयसी नारी हैं, जिनका दर्शन तीर्थयात्रा के समान है।"

सारा बुल उदार थीं और अतीव प्रतिभाशाली थीं, परन्तु इसी कारण वे सन्त नहीं थीं। अनेकों में ऐसी प्रतिभा होती है, पर वे बिल्कुल भी सन्त नहीं होते। उनकी आन्तरिक मनोवृत्ति के कारण ही स्वामीजी ने सारा बुल को 'सन्त' की उपाधि दी थी। सारा बुल ने कहा – "यह मेरे लिये गर्व की बात है कि मैं सेविका हूँ।" जुलाई १८९६ में उन्होंने लैंड्सवर्ग को अपने बारे में लिखा था – "मैंने कोई व्रत नहीं लिया है, पर जिन लोगों ने लिया है, उन लोगों के समक्ष मैंने अपनी आकांक्षाओं को व्यक्त किया तथा उनसे सहायता माँगी और उन स्वामीजी से आशीर्वाद की याचना की, जिनके प्रति मुझे इसलिए श्रद्धा है कि उन्होंने मुझे अपने गुरुदेव के बारे में परिचित कराया और पवित्रता एवं पूर्णता को समर्पित एक साहसी जीवन बिताया।"

स्वामीजी ने श्रीमती बुल की खुलकर प्रशंसा की, परन्तु उनके प्रति उनके सर्वोच्च उद्‌गार तब व्यक्त किये, जब उन्होंने लिखा – "आप ही एक मित्र हैं, श्रीरामकृष्ण जिनके जीवन के लक्ष्य हैं। आपमें मेरे विश्वास का रहस्य यही है।" और इसमें कोई संशय नहीं कि यही उनके सन्त होने का भी रहस्य था।

❖ ❖ ❖

पुस्तक-वीथि

"Economic And Political Ideas Vivekananda, Gandhi and Subhash Bose" - By Shankari Prasad Basu. Published by Sterling Publishers, 10 Green Park Extention, New Delhi, 110016. Pp. 154, Rs. 375.

भारत के एक प्रमुख उद्योगपति श्री लक्ष्मीनिवास झुनझुनवाला से तृतीय भीलवाड़ा स्मारक व्याख्यान देने का आमंत्रण पाकर लेखक २० दिसम्बर १९९७ ई. को नई दिल्ली के पी.एच.डी. सभागार में 'स्वामी विवेकानन्द की देन' विषय पर जो व्याख्यान दिया था, प्रस्तुत ग्रन्थ उसी का परिवर्धित रूप है।

स्वामीजी ऐसे दुर्लभ व्यक्तित्वों में हैं, जिन्होंने अपने संघर्षशील निष्ठा एवं चरम आत्मविश्वास से शताब्दियों के लिये संसार के भाग्य को गढ़ा। एक राजनेता न होकर भी उन्होंने राजनैतिक स्वतंत्रता हेतु संघर्ष करने, सामाजिक परिवर्तन हेतु कार्य करने एवं सामाजिक दोषों को दूर करने के लिये देशवासियों को प्रेरणा प्रदान करने में महान् भूमिका निभाई। पूँजीवाद, साम्राज्यवाद, विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी उस शताब्दी के उल्लेखनीय तथ्य थे और उन सबने हमारी पृथ्वी तथा हमारे जीवन के सभी क्षेत्रों में अदम्य प्रभाव जमाया। वस्तुत: उस समय हमारी संस्कृति, हमारा चरित्र और प्राय: सब कुछ दाँव पर लगा था। लेकिन स्वामीजी ने उन सबको बचाकर भारत की रक्षा की। स्मरणीय बात तो यह है कि स्वामीजी आध्यात्मिक जगत् से आकर भौतिक जगत् के सामाजिक-आर्थिक द्वन्द्व के परिवर्तन में ही मानसिक शान्ति पा सके थे। उनके लिये आध्यात्मिक जगत् भौतिक जगत् की सीमा के परे नहीं था। उनकी दृष्टि में तो आध्यात्मिक अनुभूति पतनोन्मुख समाज को सक्रिय बनाने में एक सशक्त विचारधारा प्रदान कर सहायता कर सकती है।

स्वामीजी परम संवेदनशील थे। उन्होंने संसार का त्याग किया, तपस्यार्थ गुफा में प्रविष्ट हुए, पर हर बार किसी शक्ति ने उन्हें दीन-दुखियों के उद्धारार्थ वापस लौटा दिया। स्वामीजी के चित्त में समस्त चेतन प्राणियों, यहाँ तक कि दुष्टों-पापियों तक के लिये संवेदना थी। उन्होंने न केवल जीवों पर दया का उपदेश दिया, अपितु उनकी पीड़ा को कम करने हेतु उनकी शिव रूप से निष्काम सेवा की शिक्षा दी। उन्होंने जो आदर्श-वाक्य ग्रहण किया, वह था – **तत्त्वमसि** – वह तुम्हीं हो। अत: दूसरों की सेवा अपनी ही सेवा है। यदि इस भाव का व्यापक प्रचार हो, तो संसार बदल सकता है। स्वामीजी ने वस्तुत: दो तथ्यों का गहन अध्ययन किया – (१) पाश्चात्य धारणानुसार सामाजिक समानता एवं प्रजातंत्र का सिद्धान्त और (२) भारतीय आध्यात्मिक मूल्य जो प्रत्येक व्यक्ति तथा सर्वत्र व्याप्त मूलभूत दिव्यता पर आधारित है।

श्री शंकरी प्रसाद बसु 'विवेकानन्द और समकालीन भारत' विषय के विशेषज्ञ हैं। समीक्षार्थ ग्रन्थ "विवेकानन्द, गाँधी एवं सुभाष के आर्थिक तथा सामाजिक विचार" में उन्होंने स्वामीजी के आर्थिक और राजनैतिक विचारों को अपने शोधों द्वारा नये परिप्रेक्ष्य में प्रकट किया है। वैसे स्वामीजी ही श्री बसु के शोध-प्रबन्धों के प्रमुख नायक होते हैं, तथापि उन्होंने भारतीय वैज्ञानिकों, राजनीतिज्ञों, कवियों, उद्योगपतियों एवं राजनेताओं के प्रबुद्ध विचारों से भी इस ग्रन्थ को अलंकृत किया है।

यह पुस्तक तीन भागों में विभक्त है। प्रथम भाग मुख्यत: स्वामीजी के बहुमुखी व्यक्तित्व को समर्पित है, जिसमें उन्होंने तत्कालीन सामाजिक और आर्थिक विचारों का मौलिक आधार के रूप में मानवतावाद की स्थापना की है। निश्चित रूप से वे प्राचीनता एवं आधुनिकता के सेतु थे। स्वामीजी के पूर्व कोई भी मानव-मुक्ति के विचार इतनी सशक्त भाषा में प्रस्तुत नहीं कर सका था। स्वर्ग के बदले मुक्ति, मुक्ति के बदले ज्ञान, पर उनका वेदान्तिक समाजवाद मात्र कल्पनात्मक आदर्श-राज्य नहीं था, अपितु यह भारतीय संस्कृति एवं विचारधारा के मूल में विद्यमान है। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार एकमात्र मन ही सुख का स्रोत है, पर इसके लिये हमें पश्चिम के सदृश भौतिक समृद्धि की जरूरत नहीं है, जरूरत यदि है तो वेदान्तिक मन की, जो भौतिक और आध्यात्मिक दोनों में सामंजस्य स्थापित कर सके, वह दर्शन जो जीवन में यथार्थ संयोजन कर सके।

ग्रन्थ का द्वितीय भाग 'भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस' पर स्वामीजी के दृष्टिकोण से सम्बद्ध है। जब स्वामीजी विदेशों मे महिमान्वित हुये, तब काँग्रेस मात्र सात वर्ष की थी। भारतीय नेताओं में वे लोकमान्य तिलक से मिले, जो यथार्थत: भारतीय राजनीति को नेतृत्व प्रदान करने में सक्षम थे। वे साम्राज्यवाद में सुधार और विपन्न देशवासियों के लिये रचनात्मक गतिविधियों में एकमत थे। गाँधीजी पर स्वामीजी का प्रभाव उनकी संघर्षशीलता के लिये नहीं, अपितु राष्ट्र हेतु पूर्ण समर्पण के लिये था।

इसका तृतीय भाग नेताजी सुभाष को समर्पित है, जो भारतवासियों के बीच फैली निराशा से मुक्ति के लिए आशा के महानायक के रूप में उद्भूत हुए थे। भारत के पुनर्जागरण में उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रगति के साथ-साथ उसमें समन्वय का भी आनयन किया। यद्यपि वे एक क्रान्तिकारी थे, परन्तु एक शुद्ध मानवतावादी और स्वामीजी के भावानुसार एक परिव्राजक एवं समाज-सुधारक भी थे। वे निश्चय ही भारत में राष्ट्रीय नियोजन के अग्रदूत थे।

समीक्षार्थ प्रस्तुत ग्रन्थ 'विवेकानन्द और समकालीन भारतवर्ष' विषय पर शोधार्थियों के लिये अत्यन्त उपयोगी है। प्राध्यापक बसु द्वारा इतनी उत्तम शैली में समस्याओं की विश्लेषणात्मक और समीक्षात्मक प्रस्तुति सचमुच ही श्लाघनीय है।

खंभात की खाड़ी में हड़प्पाकालीन अवशेष

गुजरात के निकट खम्भात की खाड़ी में समुद्र के भीतर डूबे हड़प्पाकालीन अवशेषों को ढूढ़ने में वैज्ञानिकों को कामयाबी मिली है। समुद्र की बालुकाराशि के भीतर ४० मीटर की गहराई में दबे इन अवशेषों की रूपरेखा से अनुमान होता है कि इनमें एक विशाल स्नानागार, भवनों के तलघर, मन्दिर आदि हैं।

सन् २००० के शुरू में सूरत के समुद्रतट से २० किलोमीटर दूर 'सागर-पश्चिमी' नामक एक जलपोत पर एक निजी कम्पनी के लिए प्रदूषण की जाँच कर रहे वैज्ञानिक-दल के लिए मानो यह अन्धे के हाथ बटेर लगने के समान था। जाँच के लिए एकत्र किये गये आँकड़ों पर सहज भाव से नजरें घुमाते हुए वैज्ञानिकों को समुद्रतल में स्फटिक पत्थरों के ढेर तथा नदी जैसा कुछ दिखाई दिया। बाद में ध्वनि-तरंगों द्वारा एकत्र किये गये चित्रों का सूक्ष्मता से निरीक्षण करने पर उन लोगों को पक्का विश्वास हो गया कि ये सम्भवतः ६००० वर्ष पुरानी किसी उजड़ी हुई बस्ती के अवशेष हैं। यह अति प्राचीन बस्ती शायद उस क्षेत्र में बार बार आनेवाले भूकम्प के कारण समुद्र के गर्भ में समा गयी थी।

जल के विशाल सरोवरों के समान ये आकृतियाँ कुछ ४० मीटर लम्बी-चौड़ी वर्गाकार हैं और कुछ ४१ मीटर लम्बी तथा २५ मीटर चौड़ी हैं। इनके किनारे मानव-निर्मित सीढ़ीयाँ साफ साफ दिखती हुई हड़प्पाकालीन नगरों के महा-स्नानागारों की याद दिलाती हैं। ९७ मीटर लम्बी तथा २४ मीटर चौड़ी एक संरचना हड़प्पा-संस्कृति के नगर-दुर्ग के समान लगता है। फिर ७३ मीटर लम्बी तथा ५३ मीटर चौड़ी आकृति एक आवासीय बस्ती की है। फिर ४४ मीटर लम्बी एक ऐसी भी रचना है, जो एक तालाब से युक्त मन्दिर-सी प्रतीत होती है।

मानसून के बाद जब वैज्ञानिक उन ढाँचों के निचले हिस्सों के चित्र लेने हेतु विशेष उपकरणों के साथ दुबारा पहुँचे, तो उसके नतीजे और भी रोमांचक थे। समुद्र के तल में जाकर चित्र लेने से नगर-दुर्ग के परिकल्पना की पुष्टि तो हुई ही, साथ ही बस्ती के अन्य चित्र में भलीभाँति डिजाइन की हुई नींव भी नजर आने लगी और ऊँचे भवनों की नींव तो काफी गहरी थी।

वहाँ मिले गोल स्फटिक पत्थरों से पता चलता है कि वह क्षेत्र कभी समुद्र के किनारे स्थित था और वहाँ एक या कई नदियाँ बहा करती थी। वैसे सभी प्राचीन सभ्यताएँ नदियों के तटों पर ही विकसित हुई थीं और विद्वानों का मत है कि अब लुप्त वैदिक सरस्वती नदी खम्भात की खाड़ी में ही सागर से मिलती थी।

वहाँ के समुद्र में तेज लहरें चलती रहती हैं, ज्वार-भाटे भी ११ मीटर तक की ऊँचाई तक के आते हैं और जलधारा की गति पाँच मीटर प्रति सेकेंड होती है। इतनी गहराई में गोताखोरी करना काफी मुश्किल काम है, अतः वहाँ शोध का काम अत्यन्त कठिन तथा महँगा होगा। तथापि वहाँ की पूरी जाँच-पड़ताल के बाद प्राचीन भारतीय इतिहास पर एक नया प्रकाश पड़ने की आशा की जा सकती है।

भारत में प्राचीनतम दंत-चिकित्सा के प्रमाण

भारत में ८००० से ९००० वर्ष पूर्व ही दन्त-चिकित्सा की तकनीक इतनी उन्नत हो चुकी थी कि उन दिनों भी सड़ चुके दाँतों में छेद करके खराब अंशों को निकालकर उसमें कुछ दवाइयाँ भर दी जाती थीं - अमेरिका के मिसौरी-कोलंबिया विश्व-विद्यालय में हुए शोधों के आधार पर ऐसे सम्भावना व्यक्त की गयी है। यह अध्ययन 'न्यु साइंटिस्ट' पत्रिका में प्रकाशित हुआ है।

विश्वविद्यालय में मेहगढ़ (अब पाकिस्तान में स्थित) की प्राचीन सभ्यता के अध्ययन हेतु लाये गये अस्थि-अवशेषों का पुरातात्त्विक अध्ययन करनेवाले विद्वानों की टोली की प्रमुख एन्ड्रिया क्यूसिना ने बताया कि यह संयोगवश ही पता चला कि पुरुषों के मोलर दातों के काटनेवाले सतह पर छेद किया हुआ है। बाद में एक अन्य पुरुष की खोपड़ी में दाँत की सफाई करते समय वैसा ही सुराख मिला। वर्षों के निरीक्षण तथा शोध के बाद वैज्ञानिकगण इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि विश्व में दन्त-चिकित्सा का यह प्राचीनतम उदाहरण है।

RAMAKRISHNA MISSION VIDYAPITH
A Residential Senior Secondary School
RAMAKRISHNA NAGAR, PO : VIDYAPITH
DT. - Deoghar, (Jharkhand) Pin : 814 412
RLY. STATION : BAIDYANATHDHAM, E. RLY.

Phone : (06432) - 22413 & 20442
Telefax : 22360
E-Mail - rkmvidya@dte.vsnl.net.in

एक निवेदन

वर्ग द्वादश के लिए एक छात्रावास का निर्माण

मित्रो,

आप लोग यह जानकर निश्चित रूप से अत्यन्त प्रसन्न होंगे कि रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ, देवघर ने इसी वर्ष अप्रैल से इन्टर (एकादश एवं द्वादश) की पढ़ाई आरम्भ की है। इसके लिए एक नये परिसर का निर्माण किया गया है, जहाँ प्रार्थना-भवन, पुस्तकालय, वर्ग एकादश के लिए छात्रावास, भोजनगृह, इन्डोरियम का निर्माण हो चुका है। लेकिन आर्थिक कमी के कारण वर्ग द्वादश के लिए छात्रावास का निर्माण-कार्य आरम्भ नहीं हो सका है, जबकि वर्ग द्वादश का सत्र जनवरी २००१ ई से आरम्भ होने जा रहा है। इस कार्य को पूरा करने के लिए १४ लाख रुपयों (४००० वर्गफीट के लिए रु. ३५० प्रति वर्गफीट की दर से) की आवश्यकता है।

अतः रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ, देवघर की ओर से मैं इस महान् एवं पवित्र कार्य को सम्पन्न करने के लिए आप उदारचेताओं से सहयोग की महती प्रार्थना करता हूँ।

चेक या ड्राफ्ट ''रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ, देवघर'' के नाम से ही भेजे जाएँ।

रामकृष्ण मिशन को दिया गया दान धारा ८०-जी के अनुसार आयकर से मुक्त है।

५०,०००/- रुपये या उससे अधिक की राशि-दाताओं के नाम संगमरमर शिलाखंड पर अंकित किये जायेंगे।

देवघर
दिनांक : गुरुपूर्णिमा २०००

स्वामी सुवीरानन्द
सचिव